एम.एच.डी.-6

हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास

भक्तिकालीन साहित्य

2

"शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतंत्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।"

– इन्दिरा गांधी

"Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances."

—Indira Gandhi

इंदिरा गांधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

एम.एच.डी. - 6
हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास

खंड

2

भक्तिकालीन साहित्य

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पा० लेखक	इकाई सं
श्री राजीव कुँवर दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	5
डा० नरेश मिश्र प्रोफेसर, हिन्दी विभाग महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक	6
डॉ० पूरनचंद टंडन वरिष्ठ व्याख्याता, हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	7
डॉ. प्रेमशंकर प्रोफेसर, हिन्दी विभाग सागर विश्वविद्यालय, सागर	8
डॉ. कृष्ण दत्त पालीवाल रीडर, हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	9

संपादक
प्रो० निर्मला जैन
भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पाठ्यक्रम संयोजक
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी
वरिष्ठ व्याख्याता, हिन्दी विभाग
इं.गा.रा.मु.वि.वि. नई दिल्ली

सामग्री निर्माण

अश्वनी कौड़ा
उप कुलसचिव (प्रकाशन)
इग्नू, नई दिल्ली

आवरण
श्री पंकज खरे

सी.एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
इग्नू, नई दिल्ली

अप्रैल, 2008 (Reprint)

ISBN-81-266-0265-1

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. रेणु भारद्वाज, निदेशक मानविकी विद्यापीठ द्वारा पुन: मुद्रित एवं प्रकाशित।

Printed by : **TAN Prints (India) Pvt. Ltd., Haryana (India)**

खंड 2 का परिचय

एम.ए. हिन्दी के प्रथम वर्ष के लिए आपको 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' के पाठ्यक्रम का अध्ययन करना है। इस पाठ्यक्रम के खंड-2 में आपको भक्ति काल के विषय में जानकारी दी जाएगी। हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्ति आंदोलन का व्यापक महत्व है। इस धार्मिक और साहित्यिक आंदोलन ने हिंदी साहित्य को कबीर, जायसी, तुलसी, सूर और मीरा जैसे कवि दिए। इन कवियों की कविता का स्वर मानवतावादी है। अपने मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण ही भक्त कवियों ने संकीर्ण मनोवृत्ति से ऊपर उठकर मानव जीवन को बेहतर बनाने के लिए जनता को प्रेरित किया। जाति प्रथा, कर्मकांड और सामंती मनोवृत्ति का उन्होंने विरोध किया। इस अर्थ में भक्त कवियों की कविता प्रतिरोध की कविता है। भक्त कवियों ने भारतीय जनता में गहरा आत्मविश्वास जगाया। इस आत्मविश्वास ने ही जनता के आत्मबल को मजबूत बनाया। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ ही मध्य एशिया, ईरान और भारतीय संस्कृति की सांस्कृतिक विशिष्टता के सहयोग से एक नई प्रकार की सांस्कृतिक शैली का विकास हो रहा था। इसका प्रभाव इस युग के साहित्य, समाज धर्म, चित्रकला और स्थापत्य में दृष्टिगत होता है। भक्ति आंदोलन इस मिश्रित सांस्कृतिक प्रक्रिया की प्रस्तावना है।

इस खंड की इकाई 5 में भक्ति काल की पृष्ठभूमि की चर्चा की गई है। इस इकाई में भक्ति आंदोलन की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। भक्ति काल में अर्थ व्यवस्था ने सामाजिक संरचना को बदला और सामाजिक संरचना ने धर्म को नयी तरह से व्याख्यायित किया। इसी संदर्भ में इस इकाई में दार्शनिक मतवादों को भी विवेचित किया गया है। समय-समय पर भक्ति चिंतन को लेकर विद्वानों के बीच की बौद्धिक बहस का भी परिचय दिया गया है। भक्ति आंदोलन मात्र हिंदी साहित्य का आंदोलन नहीं था, उसका स्वरूप अखिल भारतीय था। इस इकाई में दक्षिण भारत और उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन के संपर्क सूत्रों को पहचानने की भी कोशिश की गई है।

इकाई 6 में निर्गुण ज्ञानमार्गी संत काव्यधारा का विश्लेषण किया गया है। वस्तुतः निर्गुण काव्य धारा के संत और कवि तत्कालीन समाज में हाशिए पर जी रहे थे। उनका समाज की मुख्यधारा में प्रवेश निषेध था। इसी कारण उनकी कविता में गहरी मानवीय करुणा का भाव मिलता है। उनकी मानवीय करुणा का सरोकार शोषितों और पीड़ितों से था। संत कवियों में विद्रोह की भावना है। यह विद्रोह सामाजिक पाखंड और कर्मकांड के प्रति है। इस इकाई में संत काव्य की मूलभूत प्रवृत्तियों को विवेचित किया गया है। उनकी दार्शनिक अनुभूति और साधनात्मक अनुभूति को समझाने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही प्रतिनिधि संत कवियों का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है।

इकाई 7 में निर्गुण प्रेममार्गी सूफ़ी काव्यधारा की चर्चा की गई है। प्रेममार्गी काव्य हमारी सामाजिक संस्कृति की विशेषताओं को प्रतिबिंबित करता है। सूफ़ी कविता का एक पक्ष उनके सैद्धान्तिक मतवाद और दार्शनिक आग्रह से जुड़ा रहा है तथा दूसरा पक्ष लोकजीवन से जुड़ा हुआ है। लोकजीवन रीति, रिवाज, उत्सव और संस्कार के विविध रंगों को प्रेममार्गी कविता में सहजता से देखा जा सकता है। प्रकृति के साथ मानवीय रिश्तों को बहुत ही सूक्ष्मता से सूफ़ी काव्य में चित्रित किया गया है।

इकाई 8 में आप कृष्ण भक्ति काव्य का अध्ययन करेंगे। कृष्ण भक्ति साहित्य में मुख्य रूप से कृष्ण को लोकरंजक व्यक्तित्व के रूप में पहचाना गया है। कृष्ण भक्ति साहित्य का प्रेरक ग्रंथ श्रीमद्भागवत है। कृष्ण लीला का वर्णन इस ग्रंथ में मिलता है। आगे चलकर निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य और षड्गोस्वामियों ने कृष्ण भक्ति के प्रसार में योगदान दिया। कृष्ण भक्त कवियों ने चरित नायक श्री कृष्ण को लोकभूमि पर स्थापित किया। उन्होंने प्रेम को कृष्ण भक्ति का मूल उद्देश्य बताया। इस प्रेम ने मानव और मानव के बीच के अंतर को मिटाने का कार्य किया। कृष्ण भक्ति साहित्य में स्वच्छंद अनुभूति को प्रमुखता मिली है। स्वच्छंद अनुभूति ने सामाजिक जीवन की जड़ता को तोड़कर रख दिया। संपूर्ण कृष्ण भक्ति साहित्य में रागात्मक चेतना का प्रसार मिलता है।

इकाई 9 इस खंड की अंतिम इकाई है। इस इकाई में राम काव्य के स्वरूप की चर्चा की गई है। भक्तिकाल से पूर्व रामकाव्य संस्कृत, जैन और बौद्ध काव्यों में मौजूद रहा है। राम काव्य का प्रसार देश के उत्तर और दक्षिण दोनों भागों में हुआ। राम काव्य लीला काव्य के रूप में विदेशों में भी प्रचलित है। भक्ति आंदोलन के बाद हिंदी में राम के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की गई। उनके मर्यादा पुरुषोत्तम और लोकरक्षक रूप को रामकाव्य में स्थापित किया गया। तुलसीदास रामकाव्य को प्रतिष्ठित करने में केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। उन्होंने राम में लोकमंगल की भावना को चित्रित किया। रामकाव्य ने निर्गुण और सगुण के परस्पर विरोध के बीच समन्वय को स्थापित करने का प्रयास किया। रामकाव्य का विस्तार मुख्यतः गाथाकाव्य के रूप में हुआ है। इस इकाई में आप रामकाव्य की इन्हीं विशेषताओं का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

खंड के अंत में इस खंड की इकाइयों से संबंधित उपयोगी पुस्तकों की सूची दी गई है। ये पुस्तकें विषय के विशेष अध्ययन में आपकी सहायक होंगी।

इकाई 5 भक्तिकाल की पृष्ठभूमि

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भक्तिकाल की समय-सीमा से परिचित हो सकेंगे;
- भक्तिकाल की राजनीतिक पृष्ठभूमि को जान सकेंगे;
- भक्तिकाल की आर्थिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि का विवेचन कर सकेंगे;
- भक्तिकाल की धार्मिक स्थिति की चर्चा कर सकेंगे;
- भक्तिकाल की दार्शनिक पृष्ठभूमि का परिचय दे सकेंगे;
- हिन्दी साहित्य में भक्ति के उदय की व्याख्या कर सकेंगे;
- दक्षिण भारत में भक्ति-आंदोलन के उदय के कारण और भक्ति-आंदोलन के अखिल भारतीय स्वरूप का विश्लेषण कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

ऐतिहासिक दृष्टि से भक्ति-आंदोलन के विकास को दो चरणों में बाँटा जा सकता है। पहले चरण के अंतर्गत दक्षिण भारत का भक्ति-आंदोलन आता है। इस आंदोलन का काल छठी शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक का है। दूसरे चरण में उत्तर भारत का भक्ति आंदोलन आता है। इसकी

समय-सीमा तेरहवीं शताब्दी के बाद से सत्रहवीं शताब्दी तक है। इसी चरण में उत्तर भारत इस्लाम के संपर्क में आया। हिंदी साहित्य के भक्तिकाल का संबंध उत्तरी भारत के भक्ति-आंदोलन से है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल की समय सीमा सन् 1318-1643 ई. मानी है। आगे के इतिहासकारों ने भी इसी समय-सीमा को स्वीकारा है। भक्तिकाल के काल विभाजन की विस्तृत जानकारी हम इस पाठ्यक्रम के खंड-1 की पहली इकाई में आपको दे चुके हैं।

5.2 राजनीतिक पृष्ठभूमि

राजनीतिक दृष्टि से भक्ति काल का विस्तार मुख्य रूप से तुगलक वंश से लेकर मुगल वंश के बादशाह शाहज़हाँ के शासन काल तक है। इसलिए भक्तिकाल की राजनीतिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों को समझना आवश्यक है। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमोत्तर मार्ग से तुर्कों का भारत पर आक्रमण हुआ। राजपूत राजाओं की पारस्परिक फूट तथा शत्रुता के परिणामस्वरूप पृथ्वीराज चौहान मुहम्मद गौरी के हाथों तथा जयचंद कुतुबुद्दीन ऐबक के द्वारा मारा गया। इसके पश्चात् ही दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। तुर्क आक्रमणकारियों द्वारा शासित राज्य को दिल्ली सल्तनत के नाम से पुकारा जाता है। दिल्ली सल्तनत का इतिहास मुहम्मद गौरी के द्वारा भारत पर आक्रमण से शुरू होता है। सन् 1206 में तुर्की गुलाम कुतुबद्दीन ऐबक भारत में मुहम्मद गौरी का उत्तराधिकारी बना। गौरी का ही एक दूसरा गुलाम यल्दोज़ गज़नी का उत्तराधिकारी बना। यल्दोज़ ने दिल्ली पर भी अपने अधिकार का दावा किया। तभी से दिल्ली सल्तनत ने गज़नी से अपना संबंध तोड़ लिया। भारत के लिए यह फलदायी सिद्ध हुआ। इस तरह वह मध्य-एशिया की राजनीति से अलग हो गया और भारत दूसरे देशों पर निर्भर हुए बिना दिल्ली-सल्तनत में अपना स्वतंत्र विकास कर सका। शुरू के सौ वर्षों तक दिल्ली-सल्तनत को अपने राज्य की सुरक्षा के लिए प्रयास करना पड़ा। दिल्ली-सल्तनत को विदेशी आक्रमण, तुर्की अमीरों के आंतरिक विरोध, विजित राजपूत शासकों और सरदारों द्वारा फिर से राज्य को वापस लेने का खतरा था। तुर्की शासकों ने इन बाधाओं पर विजय पायी। तेरहवीं सदी के अंत तक दिल्ली-सल्तनत का विस्तार न सिर्फ मालवा और गुजरात तक, बल्कि दक्कन और दक्षिण भारत तक हो गया।

सन् 1206-1290 ई. तक दिल्ली-सल्तनत का इतिहास उतार-चढ़ाव का रहा। 1281 ई. में बलवन की मृत्यु के बाद फिर से अराजकता फैल गई। इस अराजकता का फायदा उठाकर जलालुद्दीन के नेतृत्व में कुछ सरदार सन् 1290 ई. में बलवन के अयोग्य उत्तराधिकारियों को सिंहासन से वंचित करने में सफल हुए। यहीं से ख़िलजी वंश की शुरुआत हुई। जलालुद्दीन ख़िलजी का शासन काल छह वर्ष का रहा। इस अल्प शासन काल में ही उसने बलवन के कठोर शासन में नरमी लाने का प्रयास किया। उसने राज्य का आधार 'प्रजा का समर्थन' माना। उसकी धारणा के अनुसार चूँकि भारत की अधिकांश जनता हिंदू थी इसलिए सही अर्थ में यहाँ कोई इस्लामी राज्य नहीं हो सकता था। सहिष्णुता और सरल दंड-विधान की नीति से उसने स्थानीय शासक वर्ग का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की। अगला शासक **अलाउद्दीन ख़िलजी** बना। उसने **जलालुद्दीन** की नीति को बिलकुल बदल डाला। जिन्होंने उसका विरोध करने का साहस किया उन्हें कठोर दंड दिया गया। अलाउद्दीन ने बड़े पैमाने पर अपने विरोधियों की हत्या की। उसने स्थानीय शासकों को अपने विरुद्ध षड्यंत्र रचने पर रोक लगाने के लिए कई कानून बनाए।

अलाउद्दीन के मरणोपरांत गयासुद्दीन तुगलक विद्रोह के बाद दिल्ली-सल्तनत की गद्दी पर बैठा। गयासुद्दीन ने एक नए वंश की स्थापना की जिसका नाम तुगलक वंश था। तुगलक वंश का शासन 1320-1412 ई. तक रहा। इस वंश में तीन महत्वपूर्ण शासक हुए - **गयासुद्दीन,** उसका पुत्र **मुहम्मद बिन तुगलक** (1324-1351 ई.) और उसका भतीजा **फिरोज़ तुगलक** (1351-1388 ई.)। आरंभिक दो शासकों का शासन लगभग संपूर्ण भारत पर था। फिरोज के मरने के बाद दिल्ली-सल्तनत विघटित हो गयी। यद्यपि तुगलक शासकों ने सन् 1412 ई. तक शासन किया तथापि सन् 1398 ई. में तैमूर द्वारा दिल्ली पर आक्रमण को तुगलक साम्राज्य का अंत माना गया है।

कुल मिलाकर दिल्ली-सल्तनत का शासन काल साम्राज्य के विस्तार और केंद्रीकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। **अलाउद्दीन ख़िलजी** के सत्ता में आने से पच्चीस वर्षों के भीतर दिल्ली-सल्तनत की सेनाओं ने गुजरात और मालवा पर अधिकार कर लिया। साथ ही राजस्थान के अधिकांश राजाओं को हटाने के बाद दक्षिण भारत में दक्कन और मदुरै तक के क्षेत्रों को जीत लिया गया। आगे इस विस्तृत क्षेत्र को सीधे दिल्ली प्रशासन के अधीन रखने का प्रयास किया गया। विस्तार की नीति की शुरुआत **अलाउद्दीन ख़िलजी** के द्वारा हुई। उसके उत्तराधिकारियों ने भी इस नीति को जारी रखा। मुहम्मद बिन तुगलक के काल में यह नीति अपने चरम पर पहुँच गई।

तैमूर आक्रमण के बाद सुलतान महमूद तुगलक दिल्ली से भाग गया। जब तक वह वापस दिल्ली लौटा तब तक दिल्ली के आस-पास ही कई स्थानीय शासकों और जमींदारों ने स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर दिया था। दिल्ली सल्तनत के पतन के बाद शर्की सुलतानों ने एक बड़े भू-खंड पर कानून और व्यवस्था को बनाए रखा। इस बीच कुछ समय के लिए दिल्ली पर सैयद वंश का और फिर 1451 ई. में अफगान सरदार **बहलोल लोदी** का शासन स्थापित हुआ। अफगानों की मदद से बहलोल ने शर्कियों को हटा दिया। इस तरह उत्तर भारत में अफ़गानों का वर्चस्व कायम हुआ। सबसे महत्वपूर्ण **लोदी सुलतान सिकन्दर लोदी** (1489-1517 ई.) था। **सिकन्दर लोदी** ने धौलपुर और ग्वालियर को जीतकर अपने राज्य का प्रसार किया। अपने विजय अभियान के दौरान 1506 ई. में उसने आगरा शहर की नींव डाली। इस शहर का निर्माण पूर्वी राजस्थान के क्षेत्रों तथा व्यापारिक मार्गों पर नियंत्रण स्थापित करने के उद्देश्य से किया गया था। कालान्तर में आगरा एक बड़े शहर के रूप में विकसित हुआ। आगे चलकर आगरा लोदियों की दूसरी राजधानी भी बनी। 1517 ई. में सिकन्दर लोदी की मृत्यु के बाद **इब्राहीम लोदी** गद्दी पर बैठा। **इब्राहीम** के विशाल साम्राज्य स्थापित करने के प्रयत्न से अफगान और राजपूत दोनों उसके दुश्मन बन गए। इस कारण दौलत खाँ लोदी और राणा सांगा के निमंत्रण पर **बाबर** भारत की ओर आया।

1525 ई. में जब **बाबर** पेशावर में था उसे खबर मिली कि दौलत खाँ लोदी ने अपना पलड़ा बदल दिया है, तब बाबर और दौलत खाँ के बीच युद्ध हुआ। दौलत खाँ पराजित हुआ और पंजाब पर बाबर का अधिकार हो गया। पंजाब पर विजय प्राप्त करने के बाद 20 अप्रैल 1526 ई. में बाबर की इब्राहीम लोदी से पानीपत की ऐतिहासिक लड़ाई हुई। इब्राहीम लोदी मारा गया। इस तरह अगला युद्ध राणा सांगा के साथ 1527 ई. में खनवा में हुआ। सांगा भी पराजित हुआ। उसकी मृत्यु के साथ ही बाबर के साम्राज्य का विस्तार राजस्थान तक हो गया। उसने ग्वालियर, धौलपुर, अलवर आदि पर कब्जा कर मुगल साम्राज्य का विस्तार किया। आगरा से काबुल जाते समय लाहौर में बाबर की मृत्यु हो गई। तब 1530 ई. में हुमायूँ बाबर का उत्तराधिकारी बना। हुमायूँ ने आरंभ में कई युद्धों में सफलता प्राप्त की, लेकिन कालांतर में अपने अधीनस्थ अफगान सरदार शेर खाँ से पराजित हुआ। कई युद्धों के बाद अंततः हुमायूँ को शेर खाँ ने दिल्ली के शासन से अपदस्थ कर दिया। दिल्ली की गद्दी पर बैठते ही उसने अपना नाम शेरशाह रख लिया। वह एक कुशल योद्धा और शासक रहा। शेरशाह का शासन 1555 ई. तक रहा। उसने न सिर्फ अपने साम्राज्य का विस्तार पूरे भारत में किया अपितु कुशल प्रशासन और केंद्रीकरण के परिणामस्वरूप व्यापार को भी बढ़ाया। शेरशाह के असामयिक निधन के बाद 1555 ई. में हुमायूँ दिल्ली पर फिर से अधिकार करने में सफल हुआ। लेकिन कुछ ही दिनों में हुमायूँ का निधन (1556 ई.) हो गया। 1556 ई. में 13 वर्ष की छोटी अवस्था में ही अकबर को गद्दी मिली। अकबर के उस्ताद और हुमायूँ के स्वामीभक्त और योग्य अधिकारी बैरम खाँ ने कठिन परिस्थिति का कुशलता और धैर्य से सामना किया। अकबर के नेतृत्व में आगे चलकर विशाल और स्थिर मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई। उसका साम्राज्य उत्तर-पश्चिमी अफगान देश से असम तक और उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में अहमदनगर तक फैला हुआ था। अकबर के शासनकाल में राज्य मूलतः धर्मनिरपेक्ष, सामाजिक विषयों में उदार तथा सांस्कृतिक एकता को प्रोत्साहित करने वाला बन गया। अकबर के बाद 17वीं सदी का पूर्वार्द्ध कुल मिलाकर प्रगति और विकास का काल था। इस अवधि में मुगल साम्राज्य जहाँगीर (1605-1627 ई.) तथा शाहजहाँ (1628-1658 ई.) इन दो शासकों के कुशल नेतृत्व में रहा। इन शासकों ने अकबर द्वारा विकसित प्रशासनिक व्यवस्था का और भी अधिक प्रसार किया। शाहजहाँ के अंत के साथ ही हिंदी साहित्य के भक्ति काल की भी समाप्ति हो गई। इसके बाद हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल का दौर शुरू हो गया।

5.3 आर्थिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि

केंद्रीकृत शासन-व्यवस्था

तुर्कों के द्वारा भारत में शासन कायम करने से लेकर शाहजहाँ तक के राजनीतिक इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य केंद्रीकृत शासन व्यवस्था है। तुर्कों के पतन और मुगल साम्राज्य के स्थापित होने के बीच के कुछ वर्षों को छोड़ दें तो पूरा उत्तर भारत एक केंद्रीकृत शासन व्यवस्था के अधीन रहा। कभी-कभी तो साम्राज्य का विस्तार दक्षिण भारत और बंगाल तक फैल गया। केंद्रीकृत और स्थिर शासन का अर्थ-व्यवस्था पर सबसे अच्छा प्रभाव पड़ता है। इसे हम उत्तर भारत के संदर्भ में भी देख सकते हैं।

तुर्कों ने शासन-व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए केंद्रीय प्रशासन और स्थानीय प्रशासन की व्यवस्था की। आय और व्यय का हिसाब रखने के लिए अधिकारियों की नियुक्तियाँ की गईं। साम्राज्य को विभिन्न सूबों में बाँटा गया और फिर सूबों को भी विभाजित किया गया, जिसे उस समय शिक कहा जाता था। शिक के नीचे परगने होते थे। गाँव में खुत, मुकद्दम, पटवारी के माध्यम से भू-राजस्व की वसूली की जाती थी। इस तरह केंद्र से लेकर गाँव तक एक सुचारू व्यवस्था कायम हुई। तुर्कों द्वारा स्थापित प्रशासनिक व्यवस्था आगे के शासकों द्वारा भी कुछ सुधारों के साथ अपनाई जाती रही।

शहरी समाज एवं व्यापार

तुर्कों के आने के बाद दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन शहरों का उदय है। दिल्ली, आगरा, बनारस, इलाहाबाद, पटना आदि कई शहरों का उदय हुआ। ये शहर आगे चलकर प्रमुख व्यापार केंद्र बने। शहरों के साथ-साथ छोटे-छोटे कस्बों का भी उदय हुआ। व्यापार के माध्यम से गाँव, कस्बे और शहरों से संबंध स्थापित हुआ। इस तरह गाँव का अलगाव दूर हुआ।

तुर्कों के साथ नई तकनीक भारत आई। इनमें चरखा, धुनकी, रहट, कागज, चुम्बकीय कुतुबनुमा, समय-सूचक उपकरण, घुड़सवार सेना, प्रौद्योगिकी प्रमुख हैं। नई तकनीकों का प्रभाव उद्योग तथा व्यापार पर पड़ा।

चरखे के आने से वस्त्र उद्योग में काफी बढ़ोतरी हुई। कारीगर की क्षमता बढ़ जाने से वस्त्र उद्योग भारत का सबसे बड़ा उद्योग हो गया। इसी काल में धुनकी भी आयी। धुनकी के आने से रुई से बीज निकालने की प्रक्रिया में भी तेजी आई। नील एवं अन्य वनस्पतिक रंजकों से अनेक चमकीले रंग बनाए जाते थे। इस तरह देखें तो वस्त्र उद्योग से भारी संख्या में लोगों को रोज़गार मिला। मुहम्मद बिन तुगलक के कारखानों में 4000 रेशमकर्मी थे जो भिन्न-भिन्न प्रकार की पोशाकों और वस्त्रों की बुनाई और कसीदाकारी करते थे। कबीरदास का संबंध इसी उद्योग से था। कबीर के साहित्य में कई रूपक बुनाई उद्योग से हैं। "झीनी झीनी बीनी चदरिया'' इसका प्रसिद्ध उदाहरण है।

इस दौर में सड़कों के निर्माण का कार्य बड़े पैमाने पर हुआ। तुर्क शासक शेरशाह, मुगल शासक सभी ने सड़कें बनवायीं और सड़कों के किनारे सराय बनाकर यात्रियों के ठहरने की व्यवस्था की। इसका सीधा प्रभाव व्यापार पर हुआ। इन शासकों ने व्यापार के विकास पर बहुत ध्यान दिया । उन्होंने व्यापारिक मार्गों पर सुरक्षा की व्यवस्था की। राहजनी की घटनाओं को रोकने के लिए विशेष कानून बनाया गया, जिसका सख्ती के साथ पालन किया जाता था। इस काल में शुरू होने वाला नया उद्योग कागज निर्माण का था। इसका सीधा प्रभाव व्यापार पर हुआ। हुंडी के माध्यम से सुरक्षित व्यापार का रास्ता खुल गया। इसके अतिरिक्त भवन-निर्माण उस काल में काफी हुआ। तुर्कों के आने के बाद से लेकर मुगल काल तक कई नगर बसे। किलों और महलों का निर्माण भी बहुत हुआ, जिसके परिणामस्वरूप राजमिस्त्री एवं पत्थर तराशियों का महत्व काफी बढ़ गया। कुल मिला कर देखें तो इस काल में नए शिल्पी वर्ग का उदय हुआ। भक्तिकाल के कई संत कवि इस शिल्पी वर्ग से आते हैं।

तुर्कों से लेकर मुगल काल तक उत्तर भारत में देशीय व्यापार के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय व्यापार भी बढ़ गया। यहाँ से सूती वस्त्र का निर्यात बहुत ही बड़े पैमाने पर होता था। भारत में ऐसे बहुत से बंदरगाह थे जहाँ से विभिन्न देशों से व्यापार होता था। भारत दक्षिण-पूर्वी एवं पश्चिमी एशिया के कई देशों को चीनी,

चावल आदि जैसे खाद्य पदार्थ भेजता था। इस पूरे दौर में व्यापार और उद्योग में काफी वृद्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप व्यापारी समुदाय आर्थिक रूप से काफी सम्पन्न हुआ। मुगल काल के कुछ शासक खुद व्यापार करते थे। एक तरह से सामंती समाज व्यवस्था (जो भू-राजस्व पर आधारित होती है) के भीतर पूँजीवाद (जो उद्योग एवं व्यापार पर आधारित होता है) का विकास हो रहा था। इसके बावजूद नगरों में बड़ी संख्या में गरीब लोग मौजूद थे जिनका जीवन मुश्किल से चलता था।

ग्रामीण समाज

गाँव के किसानों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। बार-बार उन्हें अकाल का सामना करना पड़ता था। सिंचाई के साधनों (रहट आदि) के आने से उत्पादन में बढ़ोत्तरी हुई और गाँव के लोग वस्त्र उद्योग से जुड़े, फिर भी स्थिति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। कई बार तो किसानों ने विद्रोह भी किया, लेकिन विद्रोहों को बुरी तरह से कुचल दिया जाता था। जमींदार और व्यापारी वर्ग की तुलना में उनकी स्थिति बहुत खराब थी। तुलसीदास के साहित्य में यह पीड़ा मौजूद है। अकाल और भूख की पीड़ा का मार्मिक चित्रण तुलसीदास ने किया है।

"कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखीं सब लोग मरै।''

तुलसी ग्रामीण चेतना के कवि हैं। उनका साहित्य तत्कालीन ग्रामीण समाज की दशा का दस्तावेज है-

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहै एक एकन सों 'कहाँ जाई का करी'।।''

जमींदारों के द्वारा किसानों का शोषण होता था। उस समय के ऐसे किसान जिनके पास अपनी जमीन थी, कठिन जीवन के बावजूद खाने की और दूसरी साधारण आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ थे। किंतु भूमिहीन किसानों, दस्तकारों और निचली श्रेणी के काम करने वालों की दशा और भी दयनीय थी। दरिद्रता का दुख तुलसी की निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है -

"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।''

जाति व्यवस्था

ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास हिंदू धर्म को कर्मकांड के माध्यम से एकीकृत करने की कोशिश हुई। जाति व्यवस्था बनी रही। जाति और सामाजिक रीति-रिवाज की दृष्टि से हिंदू स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों को समाज में ऊँचा स्थान देना जारी रखा। अब भी स्मृति ग्रंथों में इस बात पर जोर दिया जाता रहा कि अपराधियों को दंडित करना और अच्छे को आँखों की पुतली समझना क्षत्रियों का धर्म है। प्रजा की रक्षा के लिए शस्त्र धारण करना भी उन्हीं का कर्तव्य है। शूद्रों का कर्तव्य दूसरी जातियों की सेवा करना था। शूद्रों के साथ अछूत का व्यवहार जारी रहा। मुस्लिम समाज भी नस्ल और जातिगत वर्गों में विभाजित रहा। तुर्कों, इरानियों, अफगानों और भारतीय मुसलमानों में एक दूसरे के साथ वैवाहिक संबंध नहीं होता था। मुसलमानों में श्रेष्ठता की भावना, पारस्परिक विवाहों का धार्मिक निषेध और एक साथ बैठकर भोजन न करने के कारण हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सामाजिक मेल-मिलाप अधिक नहीं था। इन प्रतिबंधों के बावजूद हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सामाजिक संपर्क बना रहा। भक्ति आंदोलन की कृष्ण मार्गी धारा में कई भक्त मुसलमान थे। जाति व्यवस्था का विरोध नाथों और सिद्धों ने किया और आगे इस परंपरा में संत भक्तों की वाणियों को देखा जा सकता है।

कबीर कठोर शब्दों में पूछते हैं :-

"जे तूं बाभन बाभनी का जाया। तौ आन बाट होई कहै न आया।''

तुलसीदास के साहित्य में वर्ण-व्यवस्था को लेकर अंतर्विरोध है। कहीं तो वे वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते हैं और कहीं इस वर्ण-व्यवस्था से क्षुब्ध होकर लिखते हैं -

"धूत कहो अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोउ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोउ।।
तुलसी सरनाम गुलाम है रामु को, जाको रुचै सौ कहै कछु ओऊ।
माँगि के खैबो मसीत को सोइबो, लैबो एकु न दैबे को दोऊ।।"

5.4 धार्मिक पृष्ठभूमि

तुर्कों का आगमन तथा दिल्ली सल्तनत की स्थापना, विकास और खलबली दोनों साथ लेकर आया। विजय के आरंभिक चरण में अनेक शहरों को लूटा गया और मंदिरों को तोड़ा गया। कई मंदिरों को तोड़कर मस्जिद में परिवर्तित कर दिया गया। साम्राज्य के विस्तार के साथ यह प्रक्रिया कई चरणों में जारी रही। किंतु जैसे ही कोई प्रदेश जीत लिया गया वैसे ही शांति और विकास की प्रक्रिया आरंभ हो गई। भारत में जमने के बाद तुर्कों ने अपने मस्जिदों का निर्माण किया। हिंदुओं और जैनियों आदि के पूजास्थल के प्रति उनकी नीति मुस्लिम कानून (शरीअत) पर आधारित थी जो अन्य धर्मों के नए पूजा स्थलों के निर्माण की इजाज़त नहीं देता फिर भी गाँव में जहाँ इस्लाम का प्रचार नहीं था, मंदिरों के निर्माण पर कोई प्रतिबंध नहीं था। किंतु युद्ध काल में इस उदार नीति का पालन नहीं किया जाता था।

साधारणत: इस युग में इस्लाम स्वीकार करने के लिए बल का प्रयोग नहीं किया जाता था। धर्म परिवर्तन कर इस्लाम स्वीकार करने का कारण राजनीति और आर्थिक लाभ की आशा अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की ललक थी। कभी-कभी जब कोई प्रसिद्ध शासक या जनजाति का प्रधान धर्म परिवर्तन करता था तो उसकी प्रजा उसका अनुकरण करती थी। मुसलमान शासकों ने अनुभव किया था कि हिंदुओं में धार्मिक विश्वास इतना दृढ़ है कि बल प्रयोग द्वारा उसे नष्ट नहीं किया जा सकता था। मुसलमानों की उस समय कम जनसंख्या इसका प्रमाण है।

हिंदू धर्म का इस्लाम से संपर्क तुर्कों के आने से बहुत पहले आरंभ हो चुका था। तुर्कों के भारत आगमन के बाद यह प्रक्रिया तेज हो गई। हिंदू और मुसलमान दोनों में कुछ कट्टर लोग धर्मांधता फैला रहे थे। वे लोग दोनों धर्मों के बीच आभासित होने वाली परस्पर विरोधी प्रकृति को रेखांकित कर रहे थे। इस सबके बावजूद पारस्परिक सामंजस्य और मेल-मिलाप की धीमी प्रक्रिया आरंभ हुई। यह प्रक्रिया वास्तुकला, साहित्य, संगीत, आदि क्षेत्रों में अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रही थी। आगे चलकर यह प्रक्रिया धर्म के क्षेत्र में भक्ति-आंदोलन और सूफ़ीवाद के रूप में दिखाई देने लगी। यह प्रक्रिया 15वीं सदी में तेजी से चली और मुगल काल (16वीं-17वीं सदी) में काफी प्रबल हो गई। इतना होते हुए भी यह मान लेना गलत होगा कि टकराव खत्म हो गया था। बल्कि मेल-मिलाप की प्रक्रिया एवं टकराव साथ-साथ चलते रहे। कुछ शासकों के काल में मेल-मिलाप की इस प्रक्रिया को धक्का लगता था, जबकि कुछ अन्य शासकों के काल में अधिक तेजी से इसका विकास होता था। यह टकराव और मेल मिलाप विशेषाधिकारी एवं शक्तिशाली लोगों तथा मानवतावादी विचारों से प्रभावित आम जनता के बीच संघर्ष का रूप था। भक्ति आंदोलन के सभी भक्त कवि सबसे पहले मानवतावादी थे।

5.5 दार्शनिक पृष्ठभूमि

5.5.1 वेद से बुद्ध तक

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने धर्म की भावात्मक अनुभूति को भक्ति कहा है। उनके अनुसार भक्ति का सूत्रपात महाभारत काल में और प्रवर्तन पुराण काल में हुआ। यद्यपि भक्ति के बीज वेदों में ढूँढे जा सकते हैं । वेदकाल के देवी देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। वेदों का मानव इन देवी-देवताओं का आवाहन करता हुआ दिखाई देता है। वहाँ इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि अनेक दिव्य शक्ति के प्रति मानव की भावात्मक अनुभूति प्रकट हुई है। उपनिषद् युग में मानव का ध्यान प्रकृति शक्ति की अपेक्षा परमशक्ति

ब्रह्म की ओर अधिक गया। विभिन्न प्रकृति देवताओं के स्थान पर त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उपासना का अधिक प्रचार हुआ। वेदोत्तर काल में व्यक्तिगत देवताओं (ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश) की उपासना शुरू होने पर भक्ति की संकल्पना भी पैदा हुई। 'महाभारत' (भगवत् गीता जिसका भाग है) में ज्ञान और कर्म के साथ-साथ भक्ति को भी मोक्ष का एक मार्ग माना गया है।

इस तरह भारत में प्राचीन काल से ही धर्म और मोक्ष की साधना के लिए तीन मुख्य मार्ग प्रचलित रहे हैं - कर्म, ज्ञान तथा भक्ति। इनमें से कभी कर्म की प्रधानता रही, कभी ज्ञान की और कभी भक्ति मार्ग की। उपनिषद् काल में ज्ञान की प्रधानता थी जबकि ब्राह्मण काल में कर्म की। ब्राह्मण काल में कर्म पर इतना अधिक बल दिया गया कि कर्म कांड के विस्तार और उनकी विकृतियों के विरुद्ध फिर से ज्ञान और निवृत्तिमार्ग को लेकर बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ। ब्राह्मण काल में आकर यज्ञ में हिंसा और पाखंड की प्रबलता हो गई। इसलिए बौद्ध एवं जैन धर्म वैदिक संस्कृति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आए। भारतीय धर्म के क्षेत्र में बौद्ध एवं जैन धर्म एक नया आंदोलन था। बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म ज्यों-ज्यों प्राचीन होता गया त्यों-त्यों उसमें भी वैदिक कर्मकांड का प्रवेश होता गया तथा रूढ़िवादिता बढ़ती गई।

5.5.2 आलवार एवं नयनार

छठी सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर दसवीं सदी तक दक्षिण भारत में अनेक संतों ने भक्ति आंदोलन का विस्तार किया। इन संतों की भक्ति विशुद्ध प्रेम पर आधारित थी। इनके उपास्य देव शिव और विष्णु थे। ये संत नयनार (जो शिव के भक्त थे) और आलवार (जो विष्णु के भक्त थे) के नाम से प्रसिद्ध हुए। नयनार और आलवार संतों ने जैनियों और बौद्धों के अपरिग्रह को अस्वीकार कर ईश्वर के प्रति व्यक्तिगत भक्ति को ही मुक्ति का मार्ग बताया। इन संतों में ब्राह्मण के साथ-साथ निम्न जातियों के भी कई संत थे। उनमें अंदाल नामक एक महिला संत भी थी जिन्होंने कहा कि ईश्वर के साथ भक्त का संबंध पति के साथ स्नेहिल पत्नी के संबंध जैसा होता है। संतों के विस्तृत आधार वाले चरित्र के कारण प्रेमपूर्ण भक्ति का उनका संदेश किसी एक वर्ग के लिए नहीं था। सभी लोग इस भक्ति को ग्रहण कर सकते थे भले ही उनकी जाति, परिवार अथवा लिंग जो भी हो।

नयनारों और आलवारों के आक्रमण का प्रमुख लक्ष्य बौद्ध धर्म और जैन धर्म थे। उन दिनों दक्षिण भारत में बौद्ध एवं जैन अधिक प्रभावशाली थे। आम जनता को अपने साथ लाने में नयनार एवं आलवार संतों को सफलता मिली। इसका कारण कालांतर में बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म का दकियानूस एवं पुराण पंथी हो जाना था। वे निरर्थक अनुष्ठानवाद में लिप्त हो गए थे तथा लोगों की भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाने में समर्थ नहीं रह गए थे। नयनार एवं आलवार संतों ने स्थानीय मिथकों एवं गाथाओं का सहारा लिया। उनकी भाषा आम लोगों की भाषा (तमिल एव तेलुगु) थी। इस तरह उन्होंने एक सरल एवं सहज धर्म का प्रचार-प्रसार किया। ये संत आम लोगों पर भावात्मक प्रभाव डालने में सफल हुए। इस आंदोलन को कई स्थानीय शासकों का भी समर्थन प्राप्त हुआ। लोगों का विश्वास और स्थानीय शासकों के समर्थन से यह आंदोलन पूरे दक्षिण भारत में फैल गया।

5.5.3 शंकराचार्य

आठवीं-नवीं सदी में दार्शनिक स्तर पर बौद्ध विचारों से टकराने की भूमिका शंकराचार्य ने निभाई। बौद्धों का प्रभाव घटाने तथा वेदों और ब्राह्मणों की महत्ता की स्थापित करने के लिए शंकराचार्य ने अपने दार्शनिक चिंतन में अद्वैतवाद के सिद्धांत पर जोर दिया। अद्वैतवाद का आधार है - ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है। आत्मा परमात्मा ही है, वह उससे भिन्न या पृथक नहीं है। सांसारिक माया के कारण मानव आत्मा-परमात्मा की एकता को पहचानने की भूल करता है। शंकराचार्य एक ओर बौद्ध एवं जैन दर्शन का विरोध कर रहे थे तो दूसरी ओर उनका विरोध आलवार एवं नयनार से था। शंकराचार्य के दर्शन में वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया गया है। कुल मिलाकर शंकराचार्य के दर्शन ने ब्राह्मणवादी व्यवस्था को मजबूत करने का ही कार्य किया। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि शंकराचार्य ने ज्ञान के साथ-साथ निर्गुण ब्रह्म की उपासना का प्रचार किया। ईश्वर को शिव का स्वरूप देकर जन-साधारण के लिए शैव उपासना और पंडितों के लिए ज्ञान मार्ग के द्वारा एकेश्वरवाद का मार्ग प्रशस्त किया।

5.5.4 वैष्णव आचार्य

इस प्रकार हम देखें तो 10वीं सदी तक दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन ने बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म पर विजय प्राप्त कर ली थी। परंतु आगे चलकर दक्षिण भारत का भक्ति आंदोलन धीरे-धीरे अपना उन्मुक्त और समतावादी चरित्र खोने लगा। संतों द्वारा जातिगत प्रतिबंध की उपेक्षा करने के बावजूद जाति व्यवस्था और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को चुनौती नहीं दी गई। मंदिरों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। बृहत् अनुष्ठान एवं कर्मकांड की अधिकता होने लगी। इन अनुष्ठानों एवं कर्मकांड के माध्यम से ब्राह्मणों की शक्ति बढ़ गई। इस स्थिति को सुधारने का प्रयास **रामानुजाचार्य** ने किया। उन्होंने आलवारों की भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया। उनके मत को **विशिष्टाद्वैतवाद** के नाम से जाना गया। नयनार और आलवार संत पुस्तकीय ज्ञान की उपेक्षा करते थे, जबकि रामानुज ने भक्ति को वेदों की परंपरा के साथ जोड़ने का प्रयास किया। उनके मत में भक्ति का मार्ग सबके लिए खुला था। इसके बावजूद निम्न वर्ग के साथ खान-पान का निषेध बना रहा। आलवारों की भक्ति रामानुज के यहाँ दार्शनिक आधार पाकर नए युग की चुनौतियों का मुकाबला करने में सक्षम हुई। भक्ति आंदोलन के इस विकास क्रम में आगे चलकर **रामानन्द** आए।

आइए, अब हम उन संप्रदायों की चर्चा करें जिनकी टकराहट शंकराचार्य के अद्वैतवाद से हुई। शंकराचार्य का निर्गुण ज्ञानवाद मन में बैठी निराशा से मानव को मुक्ति नहीं दे सका। यही कारण है कि आगे चलकर चिंतकों ने अद्वैतवाद का डटकर विरोध किया तथा वैष्णव संतों द्वारा निम्नलिखित चार मतों की स्थापना हुई।

काल	संस्थापक	मत	संप्रदाय
12वीं शताब्दी	रामानुजाचार्य	विशिष्टाद्वैतवाद	श्री संप्रदाय
13वीं शताब्दी	मध्वाचार्य	द्वैतवाद	ब्राह्म संप्रदाय
13वीं शताब्दी	विष्णुस्वामी	शुद्धाद्वैतवाद	रुद्र संप्रदाय
13वीं शताब्दी	निम्बार्काचार्य	द्वैताद्वैतवाद	सनकादि संप्रदाय

इन चारों वैष्णव संप्रदायों ने शंकराचार्य के अद्वैत और ज्ञान मार्ग का विरोध किया। थोड़े बहुत अंतर के होते हुए भी इन सबकी प्रवृत्ति सगुण भक्ति की ओर होती चली गई। इन सभी ने ब्रह्म और जीव की पूर्ण एकता को अस्वीकार किया तथा इस धारणा का प्रचार-प्रसार किया कि सांसारिक जन्म के बाद जीव का ब्रह्म से एकीकरण समाप्त हो जाता है। हिंदी साहित्य के भक्तिकाल में राम मार्गी भक्ति और कृष्ण मार्गी भक्ति का संबंध इन संप्रदायों से है।

राममार्गी भक्ति

रामानुजाचार्य के शिष्य **राघवानंद** ने उनके विचारों का प्रसार उत्तर भारत में किया। राघवानंद ने रामानुजाचार्य के सिद्धांत में कुछ संशोधन भी किया। इन संशोधनों में वैष्णव भक्ति में जाति पाँति के बंधन को तोड़ने की भावना, लक्ष्मीनारायण के उपास्य रूप के साथ सीता-राम की उपासना, भक्ति को योग से समन्वित करना आदि महत्वपूर्ण है। राघवानंद के शिष्य रामानन्द हुए। रामानन्द ने श्री संप्रदाय का प्रसार 14वीं सदी में राम भक्ति के रूप में किया। रामानन्द ने भी सभी वर्णों और वर्गों के लोगों को भक्ति का अधिकारी बताया। उन्होंने निम्न वर्ग के लोगों के साथ खान-पान पर निषेध का विरोध किया। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों की भक्ति का उपदेश उन्होंने दिया। उनके अनुसार सगुण ब्रह्म को ज्ञान और वैराग्यमुक्त प्रेमयोग से तथा निर्गुण ब्रह्म को प्रेम और वैराग्यमुक्त ज्ञानयोग से प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि रामानन्द के अनुयायियों में निर्गुण संत तथा सगुण भक्त दोनों हुए। इन के बारह शिष्य जो प्रसिद्ध हैं वे हैं : रैदास, कबीर, धन्ना, सेना, पीपा, भवानंद, सुखानंद, अनंतानंद, सुरसुरानंद, पद्मावती, सुरसुरी। रामानन्द ने अपने मत का प्रचार लोक भाषा में किया।

कृष्णमार्गी भक्ति

रामानुजाचार्य के **श्री संप्रदाय** का उत्तर भारत में विकास रामभक्ति के रूप में हुआ, जबकि कृष्ण भक्ति का संबंध **मध्वाचार्य** के **ब्रह्म संप्रदाय**, **विष्णुस्वामी** के रुद्र संप्रदाय और **निम्बार्काचार्य** के **सनकादि संप्रदाय** से है। इन तीनों प्रवर्तकों के अनुयायियों में कुछ ऐसे भी हुए जिन्होने संप्रदाय विशेष में दीक्षित होकर भी निजी सिद्धांतों के आधार पर स्वतंत्र भक्ति संप्रदायों की स्थापना की। ऐसे अनुयायियों में **चैतन्य महाप्रभु** (1485-1533 ई.) और **महाप्रभु बल्लभाचार्य** (1478 ई.) प्रमुख हैं। बल्लभाचार्य की शिष्य परंपरा में हिंदी साहित्य के कृष्ण भक्त कवि आते हैं। बल्लभाचार्य की भक्ति को **पुष्टिमार्गी भक्ति** के नाम से जाना जाता है। अष्टछाप कवियों का संबंध इसी पुष्टिमार्गी भक्ति से है।

5.5.5 निर्गुण संत साहित्य

निर्गुण संतों का संबंध एक तरफ रामानन्द से है तो दूसरी तरफ ये नाथों एवं सिद्धों से भी प्रभावित हैं। इस्लाम के आने से पहले उत्तर भारत में ब्राह्मण धर्म के विरोध में कुछ पंथ सक्रिय थे। नाथपंथी एवं सिद्ध इनमें प्रमुख थे। राजपूत राजाओं की पराजय और तुर्कों का साम्राज्य स्थापित होने से ब्राह्मणों का आदर और उनकी शक्ति कम हो गई। परिणामत: नाथपंथ जैसे वे आंदोलन, जो वर्ण व्यवस्था और ब्राह्मणों के श्रेष्ठत्व को चुनौती देते थे, पनपने लगे और उन्हें लोकप्रियता मिली। नाथों एवं सिद्धों में अक्सर निम्न जातियों के लोग होते थे। चमत्कारिक शक्तियों में उनका विश्वास था। वे वर्ण व्यवस्था, ब्राह्मण धर्म की आचार संहिता तथा कर्म कांड के सख्त विरोधी थे। समाज में व्याप्त मान्यताओं के प्रति अपना विरोध दर्शाने के लिए उनमें से कुछ लोगों ने वर्जित भोजन एवं पेय ग्रहण करना शुरू कर दिया। कुछ ने तो उच्चतर ज्ञान की प्राप्ति के लिए उन्मुक्त प्रेम की वकालत भी की। यद्यपि नाथपंथियों ने उच्च नैतिक स्तर अपनाया, किंतु ब्राह्मणों ने उन सबको भ्रष्ट और समाज का शत्रु करार करते हुए उनकी भर्त्सना की। नाथों का विस्तार मध्यदेश के पश्चिमोत्तर भागों में हुआ जबकि सिद्धों का पूर्वी भाग में। उत्तर भारत के निर्गुण संत साहित्य की पृष्ठभूमि के तौर पर नाथों एवं सिद्धों के साहित्य को देखा जा सकता है। सिद्धों एवं नाथों ने संधा भाषा शैली में रचनाएँ की हैं। संधा भाषा एक प्रकार की प्रतीक भाषा है। उन्होंने अंत:-साधनात्मक अनुभूतियों को प्रतीक भाषा में ही व्यक्त किया है। यह कबीर के साहित्य में भी मौजूद है। इसे उलटबाँसी भी कहा जाता है। नाथों एवं सिद्धों के साथ ही कबीर आदि निर्गुण संतों पर महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर और नामदेव का प्रभाव भी देखा जा सकता है। सामाजिक क्षेत्र में समानता की भावना का विचार आलवारों, महाराष्ट्र के संतों और उत्तर भारतीय निर्गुण संतों में एक समान है। कबीर आदि निर्गुण संत रामानन्द के शिष्य होते हुए भी श्री संप्रदाय से नहीं जुड़े। इन संतों ने अपना स्वतंत्र विकास किया।

5.5.6 सूफ़ी भक्ति साहित्य

भारत में सूफ़ी संप्रदाय अपेक्षाकृत नया है। इस्लाम के आगमन के साथ सूफ़ी साधकों का आगमन होने लगा। तब तक भारत में भक्ति आंदोलन अपना स्वरूप ग्रहण कर चुका था। भारत में सूफ़ी साधकों के कई संप्रदाय हैं, इनमें चिश्ती संप्रदाय, कादिरा संप्रदाय, सुहरावर्दी संप्रदाय, नक्शबंदी संप्रदाय और शत्तारी संप्रदाय प्रमुख हैं। सल्तनत काल के दौरान भारत में उन्नति करने वाले दो सर्वाधिक प्रसिद्ध सूफ़ी संप्रदाय चिश्ती और सुहरावर्दी थे। सुहरावर्दी संप्रदाय के लोग मुख्य रूप से पंजाब और सिंध में सक्रिय थे, जबकि चिश्ती लोग दिल्ली और उसके आस-पास के क्षेत्रों, राजस्थान, पंजाब के कुछ भाग, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, मालवा, गुजरात आदि एवं बाद में दक्षिण में भी फैल गए।

रहस्यवादियों का जन्म इस्लाम के अंतर्गत बहुत पहले हो गया था। यही रहस्यवादी बाद में सूफ़ी कहलाए। इनमें से अधिकांश ऐसे थे जो महान भक्त थे। ये भक्त समृद्धि के भोंडे प्रदर्शन और इस्लामी साम्राज्य की स्थापना के बाद उत्पन्न नैतिक पतन के कारण दुखी थे। यही कारण था कि सूफियों को राज सत्ता से कोई सरोकार नहीं था। बाद में उनमें यही परंपरा जारी रही। सूफ़ियों ने ईश्वर और व्यक्ति के बीच प्रेम संबंध पर बहुत बल दिया। उनकी सर्वेश्वरवादी दृष्टि के कारण उनमें और इस्लामिक परंपरावादी तत्वों के बीच संघर्ष की स्थिति कई बार उत्पन्न हुई। इसके बावजूद मुस्लिम जनता में रहस्यवादी विचारों का प्रसार बढ़ता रहा। सूफ़ियों तथा हिंदू योगियों और रहस्यवादियों के बीच प्रकृति, ईश्वर, आत्मा और पदार्थ के संबंध में

विचारों की काफी समानता है। यहीं बात पारस्परिक सहनशीलता और एक-दूसरे के सिद्धांतो को समझ सकने के संदर्भ में भी कही जा सकती है। सूफियों की साधना भारतीय भक्तों एवं संतों के अनुकूल थी। इन सूफ़ी साधकों ने समान भाव से हिंदू और मुसलमान दोनों का आदर और विश्वास प्राप्त किया। सूफ़ी कवियों ने हिंदू घरों में प्रसिद्ध कथानकों के माध्यम से सूफ़ी रचनाएँ की। सर्वेश्वरवादी होने के कारण सूफ़ी साधक भी इस भक्ति आंदोलन में शामिल हो गए।

5.6 भक्तिकाल का उदय (विभिन्न विद्वानों के मतों की व्याख्या)

उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के उदय को लेकर हिंदी साहित्येतिहास में व्यापक विचार विमर्श हुआ है। इस संबंध में सर्वप्रथम जार्ज ग्रियर्सन ने अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है - "हम अपने को एक ऐसे धार्मिक आंदोलन के सामने पाते हैं, जो उन सब आंदोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा था।.......... इस युग में धर्म, ज्ञान का नहीं, बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पंडितों की जाति का नहीं है, बल्कि जिसकी एकता मध्य युग के यूरोपियन भक्त बर्नर्ड ऑफ क्लेअरवक्स, टामस-ए-केम्पिस और सेंट थेरिसा से है। ....बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अंधकार के ऊपर एक नयी बात दिखायी दी। कोई हिंदू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चय नहीं कर सकता।'' ग्रियर्सन ने अनुमान किया है कि ईस्वी सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दी में नेस्टोरियन ईसाई मद्रास प्रेसिडेंसी के कुछ हिस्सों में आकर बस गए थे। रामानुजाचार्य ने इन्हीं ईसाई भक्तों से भावावेश और प्रेमोल्लास की धार्मिक भावना का परिचय प्राप्त किया था, जो आगे चलकर उत्तर भारत में प्रचारित प्रसारित हुआ। इस आधार पर जार्ज ग्रियर्सन ने उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन को ईसाइयत की देन सिद्ध किया है। ग्रियर्सन के इस विश्लेषण का बाद के सभी इतिहासकारों ने विरोध किया। फिर भी ग्रियर्सन महत्वपूर्ण है तो बस इसलिए कि उन्होंने भक्ति आंदोलन की पहचान सबसे पहले की।

ग्रियर्सन के बाद हिंदी साहित्य का पहला वैज्ञानिक इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। उन्होंने भक्तिकाल का विश्लेषण विस्तार से किया है। शुक्लजी की दृष्टि में भक्ति साहित्य हतोत्साहित और पराजित हिंदू जनता की प्रतिक्रिया है। उनके अनुसार देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर मुसलमान शासकों द्वारा देव मन्दिर गिराए गए और हिंदुओं के पूज्य प्रतिष्ठित पुरुषों का अपमान किया जाने लगा। यह सब होने के बावजूद हिंदू जनता कुछ नहीं कर सकती थी। शुक्ल जी के शब्दों में - 'ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''

आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त विश्लेषण की दृष्टि क्या है? शुक्ल जी का मानना है कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। यहाँ दो बिंदुओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है। पहली बात यह है कि शुक्ल जी का बल तत्कालीन परिस्थिति पर अधिक है। इसलिए वे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के संदर्भ में साहित्य को देखते हैं । यही कारण है कि 'आदिकाल' का नामकरण शुक्लजी ने 'वीरगाथा काल' किया है। आदिकाल की राजनीतिक परिस्थिति को देखें तो यह समय इस्लाम के आक्रमण का काल है। शुक्लजी ने उस समय के साहित्य का विश्लेषण इस्लाम आक्रमणकारियों के विरुद्ध हिंदू राजाओं के वीरतापूर्ण युद्ध की गाथाओं के रूप में किया है। इसी क्रम में भक्ति काल की व्याख्या को भी देखा जा सकता है। तत्कालीन परिस्थितियों के दबाव के परिणास्वरूप शुक्ल जी ने भक्तिकाल के आरंभ के कारण की व्याख्या 'मुस्लिम आक्रमणकारियों से पराजित और अपने पौरुष से हताश जाति का भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ले जाना' कहकर की है। यह आचार्य शुक्ल की इतिहास दृष्टि का परिणाम है। इसे ध्यान में रखकर ही शुक्लजी की भक्तिकाल के आरंभ की व्याख्या को ठीक से समझा जा सकता है। अपने विश्लेषण में शुक्लजी ने उस समय

के इतिहास के केंद्रीकरण की विशेषता को रेखांकित किया है। केंद्रीकरण के परिणामस्वरूप आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में शुक्लजी के समय इतिहास में शोध नहीं हुआ था। इस परिवर्तन को हम पहले देख चुके हैं। हिंदू मंदिरों को तोड़ने का कार्य युद्ध के समय ही होता था। यह इतिहासकारों के परवर्ती शोध से पता चलता है। इसकी चर्चा भी हम चुके हैं। इसलिए शुक्लजी के विश्लेषण की सीमा बहुत दूर तक उस समय के शोध की सीमा है।

आचार्य शुक्ल उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन का संबंध दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन से जोड़ते हैं। शुक्लजी का निष्कर्ष इस प्रकार है –"भक्ति का जो स्रोता दक्षिण की ओर से धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदयक्षेत्र मे फैलाने के लिए पूरा स्थान मिला।'' यहाँ हम 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लायो रामानंद' वाली जनोक्ति देख सकते हैं। 'धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि' के विश्लेषण में दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन से उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन का संबंध'' हम देख चुके हैं। यहाँ शुक्ल जी ने भक्ति का मूल स्रोत दक्षिण भारत में माना है, किंतु उसके विकास और प्रसार के लिए अनुकूल परिस्थिति प्रस्तुत करने का संबंध उनके अनुसार सीधे तत्कालीन सामाजिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि शुक्लजी से भिन्न है। द्विवेदी जी 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में लिखते हैं - "मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस (हिंदी) साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।'' द्विवेदी जी तात्कालिकता को तो महत्वपूर्ण मानते हैं, परंतु तात्कालिकता का प्रतिशत उनके यहाँ चार आना ही है। द्विवेदी जी का बल 'परंपरा' पर अधिक है। इसे उन्होंने 'भारतीय परंपरा का स्वाभाविक विकास' या 'भारतीय साहित्य की प्राणधारा' कहा है। 'प्राणधारा' या 'स्वाभाविक विकास' स्वभावतः परिवर्तनशील है, किंतु परिवर्तन का यह क्रम अटूट भी है। द्विवेदी जी ने भक्ति आंदोलन को इसी प्राणधारा या स्वाभाविक विकास के रूप में पहचाना है।

द्विवेदी जी ने 'हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास' में लिखा है – "यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मंदिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में या फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर प्रकट हुई वह दक्षिण भारत में।'' इस तरह द्विवेदी जी ने शुक्लजी की 'हतदर्प पराजित जाति की प्रतिक्रिया'' वाली अवधारणा का खंडन किया है। उन्होंने इस्लाम के प्रभाव को पूरी तरह से नकारा नहीं है। इस्लाम के प्रभाव को द्विवेदी जी ने सिर्फ चार आना ही माना है। सवाल उठता है कि बाकी का 'बारह आना' क्या है ?

द्विवेदी जी का मानना है कि भारतीय पाण्डित्य ईसा के एक हजार साल बाद आचार-विचार और भाषा क्षेत्रों में स्वाभाविक रूप से 'लोक' की ओर झुक रहा था। ऐसे में आगे की शताब्दियों में इस्लाम का विस्तार न भी हुआ होता तब भी 'भक्ति' आंदोलन का रूप ले लेती। इसका कारण उनके अनुसार 'भीतर की शक्ति' है। 'भीतर की शक्ति' से उनका संकेत 'लोक शक्ति' की ओर है। यही लोक शक्ति शास्त्र को लोक की ओर झुकने के लिए बाध्य कर रही थी। इस तरह द्विवेदी जी भक्ति आंदोलन को लोक आंदोलन या जन आंदोलन के रूप में पहचानते हैं। **नामवर सिंह** ने 'दूसरी परंपरा की खोज' में द्विवेदी जी की मध्ययुग विषयक दृष्टि को रेखांकित करते हुए लिखा है – "इस प्रकार मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिंदू धर्म का संघर्ष।'' द्विवेदी जी शास्त्र की इसी लोकोन्मुखता को भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि मानते हैं।

भक्ति आंदोलन की अभिव्यक्ति मुख्यतः चार मार्गों में हुई – ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, कृष्णमार्गी और राममार्गी भक्ति। द्विवेदी जी ने चारों मार्गों की भक्ति को भारतीय परंपरा में दिखाया है। 'धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि' में इसे हम जान चुके हैं। इन चारों मार्गों की भक्ति के साहित्य को द्विवेदी जी ने महाभारत, रामायण, संस्कृत साहित्य, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य की परंपरा में दिखाया है। सूफी भक्तों ने अपने साहित्य में जिन कथानकों को चुना है यह द्विवेदी जी के अनुसार भारतीय लोककथा से लिए गए हैं। (विशेष अध्ययन के लिए देखें हिंदी साहित्य की भूमिका – आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) द्विवेदी जी ने साहित्य की परंपरा में 'शास्त्र का लगातार लोक की ओर झुकाव' को रेखांकित किया है। इसका एक बड़ा प्रमाण भक्त कवियों द्वारा लोक भाषा का चुनाव भी है। द्विवेदी जी शास्त्र के लोक की ओर झुकाव को स्वाभाविक विकास

मानते हैं। उन्होंने भक्ति आंदोलन को इसी स्वाभाविक विकास के रूप में समझने का प्रस्ताव किया है। द्विवेदीजी ने उत्तर भारत की भक्ति को दक्षिण भारत के आलवार भक्तों से जोड़ा है। यह परंपरा वैष्णव आंदोलन की परंपरा है। (दार्शनिक पृष्ठभूमि में इस विषय पर हम विचार कर चुके हैं)

इस तरह हम देखते हैं कि शुक्लजी के यहाँ तात्कालिक परिस्थितियाँ महत्वपूर्ण थी, जबकि द्विवेदी जी के यहाँ उससे आगे बढ़कर तात्कालिक परिस्थिति और परंपरा का योग है। यहीं यह प्रश्न उठता है कि 'शास्त्र' लोक की ओर झुकने के लिए क्यों मजबूर हुआ? इसका कोई आर्थिक सामाजिक कारण भी है? समाज के आर्थिक संबंधों में ऐसा कौन सा परिवर्तन हुआ जिसके कारण भक्ति की चेतना आंदोलन के रूप में सामने आई? इन प्रश्नों पर शुक्लजी और द्विवेदीजी के यहाँ विचार नहीं हुआ है। इन प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश आगे चलकर **के. दामोदरन** और **इरफान हबीब** जैसे इतिहासकारों ने की है। हिंदी साहित्य के इतिहास के संदर्भ में आर्थिक पहलू को ध्यान में रखकर भक्तिकाल की व्याख्या **मुक्तिबोध** और **डॉ. रामविलास शर्मा** ने की है। आगे हम रामविलास जी की व्याख्या को समझने का प्रयास करेंगे। रामविलास जी के विश्लेषण में परवर्ती इतिहासकारों के शोध का प्रभाव देखा जा सकता है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने भक्ति आंदोलन को हिंदी प्रदेश के सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भ में देखने का प्रयास किया है। सबसे पहले उन्होंने हिंदी प्रदेश में 'आधुनिक हिंदी भाषी जाति' के निर्माण की प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया। जाति के निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण है उत्पादन-वितरण व्यवस्था। भारत में वैदिक काल में भरत, कुरु, पांचाल आदि अनेक गण समाज थे। ऐसे समाज में उत्पादन सामूहिक श्रम द्वारा होता है और वितरण का स्वरूप भी सामूहिक होता है। गण-समाज के टूटने पर लघु जातियाँ बनती हैं। लघु जातियों का संबंध सामंती समाज व्यवस्था से है। इस समाज में उत्पादन सामूहिक श्रम के स्थान पर श्रम विभाजन के आधार पर छोटे पैमाने पर होता है। श्रम विभाजन पर आधारित उत्पादन व्यवस्था के परिणामस्वरूप ही वर्णव्यवस्था जैसी समाज व्यवस्था का चलन होता है। इस व्यवस्था में उत्पादन उपभोग के लिए होता है न कि व्यापार के लिए। सामंती समाज की लघु जातियों से आधुनिक जातियों का निर्माण होता है। ब्रज, अवधी, बुन्देली आदि लघुजातियों से आधुनिक हिंदी भाषी जाति का निर्माण हुआ। रामविलास जी 'जाति' का अर्थ भूमि से अलग सिर्फ मानव समुदाय मानते हैं। उनके अनुसार जाति वह मानव समुदाय है जो व्यापार द्वारा पूँजीवादी संबंधों के प्रसार के साथ गठित होता है। जाति का संबंध 'राष्ट्रीय एकता की भावना' से है। इस राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास परस्पर आर्थिक विनिमय, सांस्कृतिक संपर्क, भाषागत समानता और संबद्ध ऐतिहासिक पंरपराओं में होता है।

हमने राजनीतिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि में देखा कि 12वीं सदी के बाद केंद्रीकरण का दौर आया। उससे पहले गाँव की अर्थ-व्यवस्था बहुत कुछ आत्म निर्भर थी। तुर्क बादशाहों ने बाजार, तोलने के बाट, सिक्के आदि में सुधार किया। इन सुधारों का फायदा व्यापारियों को हुआ। नई-नई मंडियाँ और नए-नए शहर आबाद हुए। शेरशाह (16वीं सदी के पूर्वार्द्ध) के समय में सड़कें और नहरें बनीं जो व्यापार में काफी सहायक सिद्ध हुईं। शेरशाह ने किसान और राज्य के बीच सीधा संबंध स्थापित किया। अकबर के समय तक सामंतों और जागीरदारों की ताकत कम हुई। केंद्रीय सत्ता मजबूत हुई। व्यापार में इस सबसे काफी बढ़ोत्तरी हुई। उत्पादन अब व्यापार के लिए होने लगा। कुल मिलाकर व्यापार द्वारा पूँजीवादी संबंधों का प्रसार हुआ। पुराने जनपदों का अलगाव दूर हुआ। पटना, बनारस, इलाहाबाद, आगरा और दिल्ली व्यापार के बड़े केन्द्र थे। इन केंद्रों में कारीगर और व्यापारी बड़ी संख्या में एकत्र होते थे।

जनपदों का एक दूसरे के नजदीक आना और उनका अलगाव दूर होना यह भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी देखा जा सकता है। 'रामचरितमानस' अवधी में रचित होने के बावजूद ब्रज, भोजपुरी इलाके में भी अपनाया गया। शहर, देहात, कुल मिलाकर देखें तो पूरे हिंदी प्रदेश में यह स्वीकृत और लोकप्रिय रचना है। तुलसीदास अवध के होते हुए भी ब्रजभाषा में लिख रहे थे। कबीर और खुसरों खड़ी बोली में और मीरा, सूर, रसखान, रहीम आदि ब्रजभाषा में लिख रहे थे। इन सबका प्रसार पूरे हिंदी प्रदेश में हो रहा था। आगे चलकर ब्रज भाषा, अवधी, खड़ी बोली आदि सभी जनपदीय बोलियों का विकास हिंदी जाति में हुआ।

हिंदी जाति की सबसे बड़ी विशेषता उसका जनवादी स्वर है। रामविलास जी भक्ति आंदोलन को एक जातीय और जनवादी आंदोलन कहते हैं। सामन्ती उत्पीड़न, वर्ण व्यवस्था और पुरोहितों सामंतों के विशेष अधिकारों के विरोध का स्वर भक्ति आंदोलन में देखा जा सकता है।

"अब न बसौ इही गाँव गोसाँई'' - कबीर
"धूत कहौ अवधूत कहौ'' - तुलसी

हिंदुओं और मुसलमानों के बीच कुछ मतभेद जरूर था, लेकिन इनकी दो अलग संस्कृतियाँ नहीं थी। जायसी, रसखान, रहीम, आलम, शेख, पजनेस वगैरह की वही संस्कृति थी जो सूर, तुलसी, नन्ददास, दादू, रैदास आदि की थी।

हमने देखा कि पूँजीवादी संबंधों का प्रसार तो इस काल में हो रहा था, लेकिन सामंती व्यवस्था बनी हुई थी। सामंती व्यवस्था में दरबारी संस्कृति पल रही थी। रीतिवाद का संबंध इसी दरबारी संस्कृति से है। जबकि जातीय और जनवादी संस्कृति का संबंध पूँजीवादी संबंधों के प्रसार से है। "संतन को कहाँ सीकरी सों काम'' में सीकरी दरबार का प्रतीक है। भक्ति साहित्य लोक से जुड़ा साहित्य है। यह 'लोक' पूँजीवादी संबंधों के प्रसार से पैदा हुआ है। पूँजीवादी संबंधों का प्रसार ही वह कारण है जो 'शास्त्र' को 'लोक' की ओर झुका रहा था। 'शास्त्र का लोक की ओर झुकाव' को हमने द्विवेदी जी के विश्लेषण में देखा है। भक्ति आंदोलन इसी अर्थ में लोक जागरण का काल है। सत्रहवीं सदी के बाद जैसे ही केंद्रीय सत्ता कमजोर हुई समूचे भारत में कई छोटे-छोटे राज्य स्वतंत्र हो गए। व्यापारिक विकास रुक गया। सामंती संस्कृति फिर से वर्चस्व में आ गई। इसके साथ ही भक्ति काल का अंत हो गया और रीतिकाल आ गया। भक्ति आंदोलन के साहित्य का संबंध सामंती समाज और उसके सौंदर्य बोध से अलग लोक केंद्रित है। इस साहित्य का श्रोता/पाठक सामंत नहीं बल्कि लौकिक या जन साधारण थे। इसके परिणामस्वरूप इस साहित्य के विषय, शिल्प भाषा, सब पर 'लोक' का दबाव है।

5.7 भक्ति आंदोलन का अखिल भारतीय स्वरूप

अभी तक हमने जान लिया है कि भक्ति आंदोलन की शुरुआत सर्वप्रथम दक्षिण भारत में हुई। दक्षिण भारत का भक्ति आंदोलन बाद के दिनों में भारत के कई क्षेत्रों में फैला। यह आंदोलन दक्षिण से उत्तर भारत में कैसे विकसित हुआ इसे हम समझ चुके हैं। दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन का एक सूत्र महाराष्ट्र के भक्ति आंदोलन से जुड़ा। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में संत ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि भक्तों ने इस आंदोलन के माध यम से महाराष्ट्र में एक जातीय एवं सांप्रदायिक एकता को मजबूत किया। आरंभिक दौर में कट्टर पुराण पंथियों द्वारा इन संतों का विरोध भी हुआ और इन संतों को कष्टमय जीवन बिताना पड़ा। लेकिन भक्ति आंदोलन के दृढ़ हो जाने पर यह विरोध टिक नहीं सका। सत्रहवीं शताब्दी में तुकाराम और रामदास तक आते-आते यह आंदोलन महाराष्ट्रीय जनजीवन की एक शक्ति बन गया। इसी के परिणास्वरूप आगे चलकर शिवाजी के माध्यम से राजनीतिक रूप से महाराष्ट्र का जन्म हुआ। महाराष्ट्र के भक्ति आंदोलन में सगुण-निर्गुण का विवाद नहीं था। इसी तरह बंगाल में चण्डीदास से लेकर चैतन्य (1485-1533 ई.) तक सभी भक्तों ने मनुष्य मात्र की समानता पर जोर देते हुए वैष्णव भक्ति आंदोलन को दृढ़ किया। इन भक्तों का संबंध भी दक्षिण के वैष्णव आंदोलन से है। इन्होंने मनुष्य मात्र की समानता पर जोर दिया -

"शुनह मानुष भाई,
शबार उपरे मानुष शत्तो
ताहर उपरे नाईं।'' - चण्डीदास

जाति और धर्म के बंधन का इन्होंने विरोध किया। हिंदू तथा मुसलमानों की निम्न श्रेणियों वाले लोग भी चैतन्य के शिष्य थे। रुज, सनातन, हरिदास आदि मुसलमान थे, जो चैतन्य के प्रधान शिष्यों में गिने जाते थे। इनके यहाँ सगुण-निर्गुण का विवाद नहीं था। उन्होंने जाति आधारित धार्मिक प्रणालियों को त्याग कर कृष्ण की शरण में जाने का संदेश दिया। पंजाब प्रांत में गुरु नानक साहब ने सिख संप्रदाय की स्थापना की। नानक से लेकर गुरु गोविन्द सिंह तक संतों की लम्बी पंरपरा है जिन्होंने समाज को संगठित करने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आगे चलकर इस संप्रदाय की क्रांतिकारी भूमिका सामने आई। इस तरह हम देखते हैं कि भक्ति आंदोलन का स्वरूप अखिल भारतीय था। भक्ति आंदोलन की यह सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जाती है कि उसने संपूर्ण भारत को एक सांस्कृतिक सूत्र में जोड़ दिया।

5.8 दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन का उदय

इतिहासकारों ने दक्षिण भारत में भक्ति के उदय की व्याख्या सामाजिक ऐतिहासिक संदर्भों में की है। उनके अनुसार जो स्थिति उत्तर भारत में 13वीं - 14वीं सदी में उत्पन्न हुई वह दक्षिण भारत में पहली सदी के बाद ही पैदा हो गई थी। दक्षिण भारत में पहली शताब्दी के बाद कई शताब्दियों तक राजसत्ता अनेक पराक्रमी शासकों के हाथ में रही। केंद्रीय सत्ता के मजबूत होने के परिणास्वरूप व्यापार और कृषि में उन्नति स्वाभाविक है। दक्षिण में चोलवंशी शासक करिकाल ने कावेरी जल को नियंत्रित कर सिंचाई की व्यवस्था की। इसका सीधा फायदा किसानों को हुआ। कृषि के उत्पादन में काफी बढ़ोतरी हुई। उसी समय श्रीलंका को युद्ध में पराजित कर युद्धबंदियों के माध्यम से कावेरी के मुहाने पर पुहार का प्रसिद्ध बंदरगाह निर्मित कराया गया। इसके परिणास्वरूप विदेशों से व्यापार का रास्ता खुल गया। दक्षिण भारत से मसाले का व्यापार काफी लाभप्रद हुआ। कृषि, व्यापार और उद्योग में अभूतपूर्व उन्नति हुई। 7वीं-8वीं शताब्दी में पल्लव शासकों ने स्थापत्य को बढ़ाया दिया। चित्रकला का विकास हुआ। कांचीपुरम में बुनकरों को वैश्यों-व्यापारियों के जैसा सम्मान प्राप्त हुआ। कुल मिलाकर देखें तो यहाँ भी पूँजीवादी संबंधों का प्रसार हुआ और सामंती व्यवस्था में जो वर्ण, जातियाँ पिछड़ी हुई थीं उनमें आर्थिक सुधार हुआ। दक्षिण में आलवार भक्तों में बड़ी संख्या में शूद्र और महिला भक्त थे।

5.9 भक्ति आंदोलन : (वर्ण-व्यवस्था एवं नारी) आंतरिक अंतर्विरोध

भक्ति आंदोलन में आरंभ से ही वर्ण-व्यवस्था का विरोध दिखाई देने लगा। आलवार एवं नयनार भक्तों में वर्ण-व्यवस्था का विरोध और सामाजिक समानता की भावना बहुत साफ है। उन भक्तों में बड़ी संख्या में शूद्र थे। शूद्रों के साथ-साथ महिला भक्त भी वहाँ पहली बार दिखाई देती हैं। आण्दाल नामक महिला की गिनती प्रसिद्ध आलवार भक्तों में की जाती है। आठवीं शताब्दी के अंत में शंकराचार्य ने वर्ण व्यवस्था को फिर से मजबूत करने का आधार प्रदान किया। उनके मत से शूद्र को ज्ञान नहीं दिया जाना चाहिए। केवल द्विज को ही यज्ञ पाठ करने और दान देने व लेने का अधिकार है। उन्होंने साफ घोषणा की कि जो शूद्र वेदों को सुने उसके कानों में पिघला हुआ शीशा और लाख भर दिया जाना चाहिए। इनकी मान्यता आलवार एवं नयनार भक्तों की सामाजिक समानता की भावना के विपरीत थी। शंकराचार्य की मान्यताओं का विरोध रामानुजाचार्य एवं मध्वाचार्य ने किया। रामानुजाचार्य ने भक्ति के क्षेत्र में सबकी समानता को स्वीकार किया। इसके बावजूद वे जाति-पाँति के बंधनों को सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र में चुनौती नहीं दे सके। उन्होने मध्यमार्ग अपनाते हुए निर्देश दिया कि सभी भक्त भजन-कीर्तन तो साथ करेंगे लेकिन भोजन अपनी जाति के अनुसार अलग-अलग पंक्ति में करेंगे। इन्हीं की शिष्य परंपरा में रामानन्द हुए। उन्होंने भक्ति तथा धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों के एकाधिकार और जाति प्रथा से उत्पन्न छुआ-छूत की भावना का जोरदार विरोध किया। उनके शिष्यों की परंपरा में कबीर जुलाहा, रैदास हरिजन, धर्मदास अछूत जाट किसान और सेना नाई जाति के थे। उत्तर भारत के अधिकांश निर्गुण संत नीची जातियों से थे। यही स्थिति कृष्णमार्गी भक्ति की थी। मध्वाचार्य ने अपने शिष्यों को साफ निर्देश दिया कि वे जाति और संप्रदाय भेद पर आधारित कुरीतियों को दूर करने का प्रयास करें। ब्राह्मणों तथा उच्च जातियों की तरह शूद्रों को भी वेदों के अध्ययन का अधिकार होना चाहिए और अछूतों को भी विष्णु भक्ति से रोका नहीं जाना चाहिए। **बल्लभाचार्य** के **पुष्टिमार्ग** में जातीय भेदभाव नहीं था। अष्टछाप के कवियों में **कृष्णदास, कुंभनदास और चतुर्भुज दास** शूद्र थे। मुसलमान भक्त कवि **रसखान बिट्ठलनाथ** के प्रिय शिष्य थे। इसमें कोई शक नहीं कि रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानन्द, बल्लभाचार्य आदि ब्राह्मण थे। लेकिन इन्होंने जाति की सुविधाओं और उच्च वर्ग के दृष्टिकोण का परित्याग कर भक्ति आंदोलन का नेतृत्व किया। इन सभी ने कर्मकांड, बाह्याचार, ब्राह्मण-पुरोहित वर्चस्व तथा जाति एवं वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया। इस सबके बावजूद भक्ति एवं उपासना के क्षेत्र में तो उनकी समानता की भावना का विकास हुआ लेकिन समाज व्यवस्था में वे उपेक्षित ही रहे। यही कारण है कि निर्गुण संतों के साहित्य में वर्ण-व्यवस्था को लेकर तीखी प्रतिक्रिया हुई। उनसे पहले नाथों एवं सिद्धों की वाणी में भी यह प्रतिक्रिया मौजूद है।

हमने भक्तिकाल की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से जाना है कि सामन्ती समाज व्यवस्था में दरार पड़नी शुरू हो गयी थी। निम्न जातियों में आर्थिक विकास होने लगा था। इसके कारण निम्न जातियों में आत्म विश्वास और आत्म गौरव के भाव का उदय हुआ। इसके परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि पहली बार इतनी बड़ी संख्या में शूद्र एवं उपेक्षित जातियों से संत महात्मा, कवि, कलाकार और चिंतक सामने आते हैं। वे सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर अपनी बराबरी का दावा करते हैं। ये लोग अनुभव के आधार पर रूढ़ शास्त्रमतवादियों का विरोध करते हैं। कबीर लिखते हैं:

"मैं कहता आंखिन की देखी, तू कहता कागद की लेखी।''

भक्ति आंदोलन में जितनी संख्या में शूद्र भक्त हुए, स्त्री भक्तों की संख्या उतनी नहीं थी। फिर भी इतिहास में पहली बार महिला भक्त एवं लेखिकाओं की उपस्थिति देखी जा सकती है। दक्षिण में आण्दाल तो थी ही, उत्तर भारत में निर्गुण भक्तों में भी कई महिला संत मौजूद थीं। रामानन्द के शिष्यों में भी सुरसुरी और पद्मावती नाम की महिला संत थीं। कृष्णमार्गी भक्ति में मीरां जैसी सशक्त भक्त कवयित्री का उदाहरण हमारे सामने है। उस समय की सामंती पितृसत्तात्मक व्यवस्था में महिला भक्तों की उपस्थिति अपने आप में एक बहुत बड़ी चुनौती है। कुल मिलाकर देखें तो भक्ति आंदोलन ने सामाजिक चेतना के वृत्त का इतना विस्तार किया कि जिससे परिधि पर स्थित शूद्र और नारी दोनों ही उसके अंदर आ गए। भक्ति की दृष्टि में नारी-पुरुष और ब्राह्मण-शूद्र का भेद नहीं है। सभी अंशी के अंश हैं।

भक्ति साहित्य में हम ने देखा कि शूद्र और नारी जो इतिहास से बाहर थे भक्ति के वृत्त में शामिल हो गए। इसके बावजूद कबीर हों या तुलसी, नारी 'माया' की भूमिका में ही रही। तुलसी नारी की पराधीनता के प्रति संवेदनशील भी हैं और साथ ही उसे 'तारन के अधिकारी' भी मानते हैं। वर्ण व्यवस्था का तीखा विरोध इस भक्ति आंदोलन का स्वर रहा है, यह हम देख चुके हैं। इसी भक्ति आंदोलन के सशक्त कवि तुलसी की इन पंक्तियों में वर्ण व्यवस्था का समर्थन भी देख सकते हैं-

"बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम्हतें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँख देखावहिं डाँटि।।
साखी सब दी दोहरा कहि किहनी उपखांन।
भगति निरूपहिं भगत कलि निन्दहि वेद-पुरान।।'' - दोहावली

"सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।।
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।।
नारि मुई घर संपति नासी। मुड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।।
ते विप्रन सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं।।
सूद्र करहिं जप तप व्रत नाना। बैठि बरासन पढ़हिं पुराना।।'' - मानस

"बरन धरम गायो आश्रम निवास तज्यो
त्रासन चकित सो परावनों परो सो है।'' - कवितावली

इस तरह के विरोध के साथ ही शबरी और केवट जैसे शूद्र और निम्नवर्गीय पात्रों का उद्धार भी तुलसी के राम करते हैं। नारी और शूद्र को लेकर भक्ति काल में अंतर्विरोध बहुत साफ है। इसलिए भक्ति आंदोलन को एक सपाट और अखंड इकाई के तौर पर नहीं देखा जा सकता है। ज़रूरत है इस अंतर्विरोध को समझने की। यहीं एक और बिंदु उठाया जा सकता है। नाथ, सिद्ध और संत कवियों में वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध जो तीखी प्रतिक्रिया है वह कृष्ण मार्गी भक्तों के यहाँ शिथिल हो जाती है। तुलसी के यहाँ तक आते-आते वर्ण व्यवस्था के पक्ष में एक बार फिर से वकालत होने लगी। इसका सामाजिक-आर्थिक कारण क्या है? आइए इस प्रश्न पर विचार करें।

नारी पराधीनता और वर्ण व्यवस्था एक दूसरे से संबद्ध हैं। दोनों का सामंतवादी व्यवस्था से गहरा संबंध है। सामंतवादी व्यवस्था का आधार है कृषि आधारित ग्राम-व्यवस्था। गाँव आत्मनिर्भर और स्वत: पूर्ण इकाई होती थी। सामंतवादी सामाजिक संरचना में जाति व्यवस्था कृषि पर आधारित ग्राम व्यवस्था की एक अनिवार्यता थी। इसमें काम और पेशे के अनुसार जातियों का विभाजन हुआ था। ग्राम-स्तर पर सभी जातियाँ एक-दूसरे

पर आश्रित थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय से लेकर नाई, धोबी, कहार, दर्जी, लोहार, बढ़ई, धुनियां, बुनकर, माली, हरिजन आदि के अपने-अपने निश्चित जातीय कर्म थे। गाँव की पंचायत वहाँ के सामंत या जमींदार के माध्यम से सम्राट के शासन को लागू करने के साथ ही भूमि व्यवस्था और करों का नियमन भी करती थी। इस तरह पूरी सामंतवादी व्यवस्था जाति व्यवस्था पर टिकी हुई थी। सामंतवादी व्यवस्था को आधार प्रदान करने का कार्य ब्राह्मण पुरोहित वर्ग के हाथ में था। यह वर्ग वेद, शास्त्र, पुराण आदि की आड़ में अनेक कर्मकांडों और अनुष्ठानों की योजना के माध्यम से निम्न जातियों का शोषण करता था। इसी कारण कबीर आदि निर्गुण संतों द्वारा ब्राह्मणवाद पर कुठाराघात किया गया। इसके बावजूद यह जाति व्यवस्था टूटी नहीं। क्योंकि आत्मनिर्भर ग्राम इकाई को तोड़े बिना इस जाति व्यवस्था की समाप्ति संभव नहीं थी। निर्गुण संतों का प्रभाव शहरों के आसपास के गाँव तक ही सीमित रहा। इसका कारण था इन गाँवों को बाजार और उसके लिए माल उत्पादन की सुविधा मिलना। कारीगर, शिल्पी और व्यवसायी वर्ग आत्मनिर्भर ग्राम इकाई से निकल कर बाजार में पहुँच गए थे। यह पूँजीवादी व्यवस्था के आरंभिक विकास का परिणाम था। सामंती व्यवस्था की जकड़ मजबूत होते ही फिर से वर्ण व्यवस्था का समर्थन किया जाने लगा। तुलसी दास को अपनी सगुण राम-भक्ति के द्वारा लोक-मर्यादा के रूप में वर्ण व्यवस्था की पुनर्प्रतिष्ठा में कोई विशेष दिक्कत नहीं हुई। आगे चलकर रीतिकाल में नारी का स्वरूप 'नायिका' का और राधा-कृष्ण 'सुमिरन का बहाना' होकर रह गये, क्योंकि तब तक सामंतवाद एक बार फिर से मजबूत हो गया।

नाथ, सिद्ध एवं कबीर आदि निम्नवर्गीय संत वर्ण व्यवस्था का विरोध अपनी स्थिति के कारण करते हैं। वर्ण व्यवस्था में उनके लिए अवकाश नहीं है। तुलसी ब्राह्मण हैं। उन्हें ब्राह्मणों ने कष्ट भी पहुँचाया। इसके बावजूद शूद्रों के साथ उनकी सहानुभूति सिर्फ भक्ति के अधिकार तक है। समाज व्यवस्था की उनकी विश्व-दृष्टि सामंतवादी ही थी। यह उनकी ऐतिहासिक सीमा थी। यह ज्ञान के ऐतिहासिक विकास की सीमा थी। इस सीमा को समझे बिना भक्तिकाल के इस अंतर्विरोध को भी नहीं समझा जा सकता।

5.10 सारांश

अभी तक हम लोगों ने भक्ति काल की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझते हुए उत्तर भारत में भक्ति के उदय के कारणों को विभिन्न दृष्टि से देखा। हमने यह भी चर्चा की कि जहाँ शुक्लजी की दृष्टि में तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थिति महत्वपूर्ण है, वहीं द्विवेदी जी का बल परंपरा पर अधिक है। द्विवेदी जी तत्कालीन परिस्थिति को नकारते नहीं हैं। आगे चलकर के. दामोदरन और डॉ. रामविलास शर्मा ने परवर्ती इतिहास में हुए शोध निष्कर्षों के सहारे भक्ति काल की नए ढंग से व्याख्या की। इस व्याख्या की विशेषता आर्थिक पहलू है। तुर्कों और मुगलों के भारत में आने से इतिहास में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सामाजिक संरचना पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। शुक्लजी और द्विवेदी जी के समय तक इस तरह का शोध-निष्कर्ष सामने नहीं आया था। आगे चलकर डॉ. रामविलास शर्मा ने इन निष्कर्षों का सहारा लेकर भक्ति आंदोलन की पुनर्व्याख्या की।

भक्ति आंदोलन को एकांगी दृष्टि से नहीं समझा जा सकता है। इसका सबसे बड़ा कारण है इस आंदोलन का बहुमुखी प्रभाव। भक्ति आंदोलन का प्रभाव सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक संदर्भों पर तो रहा ही साथ ही साथ कला और संस्कृति पर भी इसका प्रभाव बहुत ही गहरा पड़ा। इस आंदोलन में अवर्ण से लेकर सवर्ण तक, महिला से लेकर पुरुष तक, शिक्षित से लेकर अशिक्षित तक और हिंदू से लेकर मुसलमान तक सभी शामिल थे। यह आंदोलन अपने स्वभाव में जनतांत्रिक था। इसके साथ ही इस आंदोलन का स्वरूप अखिल भारतीय था। भक्ति साहित्य इसी आंदोलन की देन है। इसलिए भक्ति साहित्य को पढ़ते हुए इस आंदोलन की प्रकृति और स्वरूप को ध्यान में रखना जरूरी है।

5.11 अभ्यास प्रश्न

1. "अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी हिंदी साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।'' इस कथन के आलोक में भक्ति आंदोलन के उदय को समझाइए।

2. "भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द'' - इस जनोक्ति को ध्यान में रखते हुए भक्ति आंदोलन के अखिल भारतीय स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

3. "भक्ति आंदोलन सामंत विरोधी शक्तियों के उभरने का परिणाम है।'' आप इससे कितना सहमत हैं? युक्ति-युक्त उत्तर दीजिए।

4. तत्कालीन सामाजिक, ऐतिहासिक संदर्भ में भक्ति आंदोलन की व्याख्या कीजिए।

इकाई 6 निर्गुण ज्ञानमार्गी संत काव्य धारा

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत आप निर्गुण काव्य धारा की ज्ञानमार्गी (संत) शाखा का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने को बाद आप :

- संत काव्य की पृष्ठभूमि की चर्चा कर सकेंगे;
- संतमत के सिद्धान्त का परिचय प्राप्त कर उसके स्वरूप को समझा सकेंगे;
- संत काव्य की विशेषताओं का परिचय दे सकेंगे;
- संत काव्य की प्रवृत्तियों को बता सकेंगे;
- संत काव्य के वस्तु एवं शिल्प पक्ष की जानकारी दे सकेंगे; और
- संत काव्य धारा के महत्व का प्रतिपादन कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

यह इकाई निर्गुण ज्ञानमार्गी संत काव्यधारा से संबंधित है। हिन्दी साहित्य के सन्त कवियों की ज्ञानाधारित निष्पक्षता, न्यायप्रियता, भक्तिभावना और काव्यधारा को दृष्टिगत कर इसे ज्ञानमार्गी काव्यधारा की संज्ञा दी जाती है। इस काव्यधारा के लिए 'संत काव्यधारा' और 'निर्गुण काव्यधारा' नाम भी दिए गए हैं। भक्तिकाल की विषम राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में आशा की ज्योति बिखेरने का कार्य संत काव्यधारा के कवियों ने किया। उन्होंने तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं को अपने जीवन के व्यापक अनुभव के आधार पर जनसामान्य के लिए बोधगम्य बनाया। देखा जाए तो ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के उद्भव में युगीन परिवेश की

सबल भूमिका रही है। इन कवियों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को समाज के अभिन्न अंग के रूप में मान्यता प्रदान करते हुए उनमें भावात्मक एकता लाने का प्रयास किया। इन्होंने विभिन्न विवादों को छोड़कर निर्गुण के आधार पर राम और रहीम को एकाकार करने का अनूठा कार्य किया। धार्मिक सहिष्णुता को संत कवियों ने सामाजिक विकास के लिए आवश्यक माना। उनके साहित्य में आध्यात्मिक चेतना के साथ-साथ सामाजिक चेतना भी सक्रिय थी। संत काव्य का अध्ययन करते हुए आप पाएँगे कि उनके काव्य में सामाजिक मूल्यों के प्रति गहरी चिन्ता मिलती है। सामंती समाज के वर्णवादी मूल्यों के प्रति उनमें आक्रोश है। वर्णवाद सामाजिक विषमता को पैदा करता है। इस सामाजिक विषमता के विरुद्ध संत कवि खड़े होते हैं। संत कवि वर्णवादी समाज को तोड़कर मानवतावादी समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे।

निर्गुण काव्य में मानवीय अनुभव और विवेक को प्रामाणिक माना गया है। इसलिए संत कवि पांडित्य परंपरा और पुस्तकीय ज्ञान के वाद-विवाद को व्यर्थ मानते हैं। उनके काव्य में अनुभूति की निश्छलता और शिल्प की अनगढ़ता मिलती है। उन्होंने साहित्य में लौकिक अनुभूतियों को स्थान दिया।

6.2 संत शब्द का अर्थ

संत शब्द का प्रयोग प्रायः बुद्धिमान पवित्रात्मा, परोपकारी व सज्जन व्यक्ति के लिए किया जाता है। संत शब्द उस 'शुद्ध अस्तित्व' का बोधक है जो सदा एकरस तथा अविकृत भाव रूप में विद्यमान रहता है। इस शब्द के सत् रूप का, ब्रह्म या परमात्मा के लिए किया गया प्रयोग बहुधा वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है। अतएव संत शब्द, उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत् रूपी परमतत्व का अनुभव कर लिया हो। जो अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। इस प्रकार जो सत्य का साक्षात्कार कर चुका हो, वही संत है। कबीरदास ने भी अपनी एक साखी में कहा है – 'निरबैरी निहकामता, साँई सेंती नेह। विषया सून्दरा रहै, संतनि को अंग एह।।' यहाँ भी संतों का लक्षण उनका निर्बैरी, निष्काम, प्रभु का प्रेमी और विषयों से विरक्त होना है। संत शब्द में व्यक्ति विशेष की 'रहनी' तथा 'करनी' का सुंदर सामंजस्य भी लक्षित होता है। इस प्रकार संत शब्द का प्रयोग अपनी व्यापकता के साथ, किसी समय, विशेष रूप से उन भक्तों के लिए होने लगा था जो वारकरी सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक थे और उनकी साधना निर्गुण भक्ति के आधार पर चलती थी। इनमें नामदेव, ज्ञानदेव, एकनाथ आदि भक्तों के नाम आते हैं जो सभी महाराष्ट्र प्रान्त से संबद्ध थे और कदाचित् अनके बातों में उन्हीं के समान होने के कारण, उत्तरी भारत में कबीर आदि भक्त कवियों के लिए भी यह शब्द चल पड़ा। अतः हिंदी में संत कवि से अभिप्राय-कबीर आदि निर्गुणोपासक ज्ञान मार्गी कवियों से लिया जाता है।

6.3 संत मत

संत मत पहले से निश्चित किसी सिद्धान्त या मत का संग्रह मात्र नहीं है। इसका प्रसार भिन्न संतों द्वारा समय-समय पर दिए उपदेशों से भी नहीं हुआ है। यह परम्परा, अनुभव से ज्ञान का संधान कर प्रसार को प्राप्त करती है। कबीरदास कहते हैं : 'सतगुरु तत कह्यौ बिचार, मूल गह्यौ अनभै विस्तार।' तत्व का ग्रहण कर, अनुभव और विवेक के समन्वय से ही यह मत अस्तित्व में आया। बुद्धदेव ने कहा था – 'कोई बात इसलिए न मानो, कि वह किताबों में लिखी है, कि वह तुम्हारे मत के अनुरूप है, कहने वाला सुवेश है, अधिक पढ़ा-लिखा है, वयोवृद्ध है, तुम्हारा श्रद्धेय है। जब तुम मर्म विवेचन से यह जान लो कि वह जो कुछ कह रहा है, उसमें तुम्हारा ही नहीं दूसरों का भी कल्याण है, तभी मानो'' या "अपना दीपक स्वयं बनो''। कबीर आदि संतों ने भी अनुभव और विवेक को तरजीह दी है। राम नाम के महत्व का स्वीकार तो अन्य मत भी करते हैं, किन्तु कबीरदासादि संत इसका मर्म जान लेने को महत्व देते हैं। इसके रहस्य का परिचय प्राप्त कर लेने की बात कहते हैं।

संत कवि ईश्वर से तादात्म्य करने के लिए नामोपासना की पद्धति को स्वीकार करते हैं। परमतत्व के विषय में किसी प्रकार का दार्शनिक विवेचन इन्होंने नहीं किया। इसे ये कवि राम, खुदा, रहीम, ब्रह्म आदि अनेक नामों से पुकारते हैं, किन्तु सबका लक्ष्य परमतत्त्व का साक्षात्कार करना ही है। नामस्मरण की

विशेषता है कि इसमें साधक का ध्यान बराबर अपने इष्ट देव में लगा रहता है, उसे एक क्षण के लिए भी अपनी साधना को छोड़ना नहीं होता है। इसके लिए किसी प्रकार के बाह्य कर्मकाण्डगत उपकरणों की आवश्यकता नहीं पड़ती। उन्हें सदैव ईश्वर की सुरति रहती है। संतों की यह साधना पद्धति अजपाजाप के नाम से प्रसिद्ध है। संतों की बानियों में योगसाधना के प्रतीकों की चर्चा भी मिलती है। कुंडलिनी, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियाँ और छः चक्र - मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञा चक्र एवं सहस्रार चक्र का उल्लेख भी इनके काव्य में मिलता है। संतों ने अष्टांग योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि में से भी प्रायः सभी का उल्लेख किसी न किसी प्रकार किया है। संतों की निर्गुण निराकार की उपासना पद्धति को 'अभेद' शक्ति का नाम दिया जाता है। किन्तु यह नहीं मानना चाहिए कि उनकी भक्ति पूर्णतः भावात्मक है। भक्ति के आलम्बन राम निर्गुण निराकार हो सकते हैं पर उपासना के क्षेत्र में आते ही वे अनुपम व्यक्तित्व से मंडित हो जाते हैं। इस प्रकार राम की उपासना की विधि बताकर संत कवि मनुष्य के मन में 'सत्' का विकास करना चाहते हैं। उनका लक्ष्य है कि दया, ममता, स्नेह, परोपकार जैसे कोमल भाव मनुष्य के हृदय की सम्पत्ति होने चाहिए, इनके लिए हमें किसी अवतारी राम या कृष्ण की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। अवतारवाद, परावलम्बन की माँग करता है, जबकि मनुष्य का विकास, विश्व कल्याण स्वावलंबन एवं परदुःखकातरता की भावना से ही हो सकता है।

6.4 संत परम्परा

कबीरदास जैसे संतों की परम्परा का सूत्रपात विक्रमी की 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल में हुआ था। स्वामी रामानन्द (सं०1355-1467) कबीरदास के दीक्षा गुरु थे। संत रविदास, सेना नाई, पीपा धन्ना आदि उनके गुरु भाई थे। जनश्रुति है कि स्वामी जी के उपदेशों से प्रभावित होकर ही इन्होंने संत परम्परा का सूत्रपात किया। वस्तुतः संत परम्परा की विचारधारा के लिए अनुकूल भावभूमि बहुत पहले ही तैयार हो रही थी। पूर्व में बौद्ध धर्म, वज्रयान एवं सहजयान में परिणत हो गया था। वैष्णव सम्प्रदाय और उसमें कई बातों का आदान-प्रदान हुआ और इस तरह दोनों निकट आने लगे। इसी प्रकार का वैचारिक सामंजस्य नाथपंथ एवं स्थानीय वैष्णव सम्प्रदाय के मध्य महाराष्ट्र तथा राजस्थान में देखने में आया। इस प्रभाव के फलस्वरूप पूर्व की ओर से संत जयदेव, दक्षिण की ओर से संत ज्ञानदेव एवं नामदेव, पश्चिम की ओर से संत बेनी एवं सधना तथा कश्मीर की ओर से संत ललद्देव का आविर्भाव स्वामी रामानन्द से पहले ही हो चुका था। आगे चलकर कबीर आदि संतों की दीर्घ परम्परा हिंदी में चली। अनेक पंथों एवं गद्दियों की स्थापना हुई। इनमें नानक देव के पंथ के अतिरिक्त दादू दयाल के दादू पंथ, हरिदास के निरंजनी सम्प्रदाय, मलूकदास के मलूक पंथ तथा कबीर साहब के नाम पर कबीर पंथ बनकर तैयार हो गए। विस्तृत संत परम्परा में बाबरी साहिब, कमाल, दादूदयाल, सुंदरदास, गरीबदास, जगजीवन साहब, जम्भदास, सिंगाजी, हरिदास, निरंजनी, मलूकदास, अक्षरअनन्य, गुरुनानक, चरणदास, गुलाब साहब आदि अनेक कवि हुए हैं। इस परम्परा का प्रथम युग, संत जयदेव से आरम्भ होता है और उसके पीछे दो सौ वर्षों तक संत अधिकतर पथ-प्रदर्शकों के रूप में आते हुए दीख पड़ते हैं। 15वीं शताब्दी में कबीरदास ने संतमत के निश्चित सिद्धान्तों का प्रचार विस्तार के साथ एवं स्पष्ट शब्दों में किया। आचार्य शुक्ल इन्हें ही निर्गुण भक्ति का प्रवर्तक मानते हैं।

6.5 ज्ञानमार्ग : अर्थ एवं दृष्टिकोण

ज्ञानमार्ग की प्रतिष्ठा आचार्य शंकर ने की थी। उन्होंने ज्ञान और भक्ति तथा निर्गुण और सगुण भक्ति के विरोध की स्थापना करते हुए निर्गुण को ज्ञान से संबद्ध किया है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म तथा ज्ञान साधना को ही परम सत्य के रूप में स्वीकार किया। इसी ऐतिहासिक कारण से निर्गुण काव्यधारा में ज्ञान की अनुभूति को ही भक्ति माना जाता है अर्थात् निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करने का साधन 'ज्ञान' को बताया गया है। यह ज्ञान वस्तुतः अंतर्ज्ञान है, जो सहज ही बिना किसी भक्तिमार्गीय पद्धति के साधनों के उत्पन्न होता है। इसे ही सहजज्ञान कहा गया तथा संत कवि कबीर ने इसे ही 'ब्रह्मगियान' कहा है। वस्तुतः निर्गुण भक्त कवियों के लिए ज्ञान अनुभव की परिपक्वता का प्रतीक है। अनुभव को उन्होंने लोकव्यवहार से प्राप्त किया।

शंकराचार्य के ज्ञान में सैद्धान्तिक और बौद्धिक चिंतन का द्वन्द्व है। कबीर आदि संत कवियों के ज्ञान में अनुभव की ऊर्जा है। संत कवियों ने सैद्धान्तिक रूप में निर्गुण मार्ग और ज्ञान मार्ग को अपनाते हुए भी उसके व्यावहारिक पक्षों पर बल दिया।

6.5.1 निर्गुण : अर्थ एवं स्वरूप

जैसाकि आप जानते हैं कि निर्गुण शब्द का शाब्दिक अर्थ गुण रहित होता है। किन्तु संतों के काव्य में निर्गुण साहित्य का द्योतक न होकर, गुणातीत की ओर संकेत करता है। इनके यहाँ यह किसी निषेधात्मक सत्ता का वाचक न होकर उस परंब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है : जो सत्व, रजस और तमस तीनों गुणों से अतीत है, वाणी जिसके स्वरूप का वर्णन करने में असमर्थ है अर्थात जो गूँगे के गुड़ के समान अनुभूति का विषय है; जो रंग, रूप, रेखा से परे है। परम्परा में भारतीय चिन्तक भी जिसके स्वरूप का वर्णन करने में असमर्थ रहकर नेति-नेति का आश्रय ले बैठे। यह निर्गुण ब्रह्म घट-घट वासी है, फिर भी इन्द्रियों से परे है। वह अवर्ण होकर भी सभी वर्णों में है। अरूप होकर भी सभी रूपों में विद्यमान है। वह देश-काल से परे है, आदि अन्त से रहित है, फिर भी पिंड और ब्रह्मांड सभी में व्याप्त है। निर्गुण के स्वरूप के बारे में कबीरदास की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य है-

> संतों, धोखा कासूं कहिये।
> गुन में निरगुन, निरगुन में गुन, बाट छाँड़ि क्यूँ बहिये।
> अजर-अमर कथै सब कोई अलख न कथणां जाइ।
> नाति-स्वरूप-वरण नहिं जाके घटि-घटि रह्यौ समाइ।
> प्यंड-ब्रह्मांड कथै सब कोई वाकै आदि अरु अंत न होइ।
> प्यंड-ब्रह्मांड छाँड़ि जे कहियै कहै कबीर हरि सोइ।।

(कबीर ग्रन्थावली, पद 180)

स्पष्टतया, कबीरदास कहते हैं - हे संतों, मैं धोखे की बात किससे कहूँ गुण में ही निर्गुण हैं और निर्गुण में ही गुण, उसका ध्यान छोड़कर कहाँ बहता फिरा जाय? लोग उसे अजर कहते हैं, अमर कहते हैं, पर वास्तविकता तो यह है कि वह अलक्ष्य है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका कोई स्वरूप नहीं है कोई वर्ण नहीं है वह घट-घट में समाया रहता है (कहने का अर्थ है कि वह सभी रूपों और सभी वर्णों में है)। लोग पिंड और ब्रह्मांड की बातें करते हैं (पर विचार करने पर ज्ञान होता है कि पिंड और ब्रह्मांड की सीमा है।) किंतु उसका न तो आदि है और न अंत। अत: जो पिंड और ब्रह्मांड से भी परे है, वही हरि है। ऐसा हरि जिसका रूप नहीं, रेखा नहीं, जो सूर्य, चन्द्र, पवन, पानी भी नहीं वही संत कवियों का 'निर्गुण' है। इसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'ब्रह्म' का पर्याय मानते हैं दृश्यमान जगत से विलक्षण, सबसे न्यारा यह निर्गुण प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है और भावना की कोमल नाल से भावित है।

संक्षेप में निर्गुण :

- चराचर जगत में व्याप्त वह ब्रह्म है जो सामाजिकों के दु:ख को जानता है और भावना से भावित है।
- यह ब्रह्म निराकार, अलक्ष्य, द्वैताद्वैतविलक्षण, सत्व, रजस और तमस तीनों गुणों से परे है, फिर भी घट-घट में समाया हुआ है।
- यह निर्गुण ब्रह्म अनुभूति का विषय है और प्रेम से प्राप्य है।
- यह निर्गुण ब्रह्म तद्युगीन सामाजिक विषमताग्रस्त समाज को ऐक्य की अनुभूति कराने का सशक्त माध्यम बन सका।

निर्गुण भक्ति ने समानता का संदेश दिया। निर्गुण भक्त कवियों का स्वप्न एक ऐसे समाज का निर्माण करना था, जहाँ किसी प्रकार का भेद नहीं हो।

6.5.2 भक्ति आंदोलन और निर्गुण संत

इकाई-5 (भक्तिकाल की पृष्ठभूमि) में आप पढ़ चुके हैं कि भक्ति आन्दोलन सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रिया का परिणाम था। मध्यकाल में भारतीय संस्कृति के समक्ष इस्लामी आक्रमणकारियों के रूप में एक ऐसी विद्रोही शक्ति थी जिसकी अपनी सांस्कृतिक जड़ें काफी गहरी थीं। जिसका उद्देश्य भारत में आकर लूटमार करना मात्र नहीं था। आबिद हुसैन ने ठीक ही लिखा है कि अगर यूनानियों की तरह, जो दूसरी शती ईस्वी में बख्तर से आए थे, अपने और अपनी संस्कृति के उद्गम स्थान से बहुत अरसे तक उनका नाता टूटा रहता अथवा अगर उनकी संस्कृति सीरियन और हूणों की तरह आदिम होती, तो वे हिंदू समाज में घुल-मिल कर एकात्म हो जाते। लेकिन पहले तो वे एक समुन्नत अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति के प्रतिनिधि थे, दूसरे वे भारत के बाहर उस संस्कृति के केन्द्रों से, इनमें इस्लामी जगत का राजनीतिक केन्द्र बगदाद भी शामिल था, जिसका महत्व आज नाम मात्र को रह गया है, बराबर सम्पर्क बनाए रहे। इन कारणों से उन्हें पूरी तरह भारतीय होने में समय लगा (आबिद हुसैन, राष्ट्रीय संस्कृति, पृष्ठ 44)। अभी तक जिस समाज के लोगों के लिए कोई विशेष नाम नहीं था, अब उन्हें हिंदू कहा जाने लगा। हिंदू अर्थात गैर इस्लामी। इस्लाम धर्म पूरी उदारता के साथ हिंदू वर्णाश्रमधर्म आधारित व्यवस्था में आचरण भ्रष्ट समझी जाने वाली जातियों एवं अन्त्यजों को अपनाकर समानता का अधिकार देने को लालायित था। फिर भी परिस्थितियों में किसी प्रकार सुधार न हो सका। हिंदू जाति वर्णाश्रम धर्म की जटिलताओं से युक्त थी, तो इस्लाम भी धार्मिक कट्टरता की भावना से ग्रस्त था। उधर उत्तर भारत में सिद्धों, नाथों के कर्मकाण्ड के कारण सच्ची धर्म भावना का ह्रास हो रहा था। व्यवस्था के इस दुष्चक्र की चक्की में सामान्य जन लगातार पिस रहा था। दक्षिण से आनेवाली भक्ति की लहर ने हिंदू-मुसलमान दोनों को प्रभावित किया। भक्ति आंदोलन का सूत्रपात दक्षिण से हुआ। हिन्दी की अनुश्रुति इस ओर संकेत करती है:

> "भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।
> प्रगट किया कबीर ने सप्तद्वीप नवखंड।''

स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में भक्ति के प्रणेता रामानन्द थे और इसे उत्तर में कबीर ने प्रसारित किया। इनके पहले आलवारों और नयनारों ने दक्षिण भारत में ही भक्ति का प्रयोग बौद्धों के प्रभाव को कम करने के लिए किया था। इन्हीं आलवारों से होती हुई भक्ति की यह धारा नाथमुनि, यमुनाचार्य, रामानुजाचार्य, रामानन्द, बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य और विष्णुस्वामी आदि तक में प्रवाहित हुई। शैवों में वर्तमान भक्ति की धारा नयनारों के बीच विकसित हुई तथा महाराष्ट्र की ओर बह चली। इस धारा का रूप कर्नाटक के पुण्डलीक में मिलता है, जहाँ इसका विकास वैष्णवों और शैवों के भेदों को दूर करने के लिए समन्वयात्मक रूप में हुआ। इसका संकेत ज्ञानदेव के भाई निवृत्तिनाथ ने किया है। जैसा कि आपने 'भक्तिकाल की पृष्ठभूमि' में पढ़ा कि एक आचार्य भक्ति की प्रवृत्ति के प्रवर्तन के लिए मुसलमानों के आक्रमण को महत्व देते हैं, तो दूसरे आचार्य इसे लोकधर्म के बीच से स्वरूप ग्रहण करता हुआ बताते हैं। वस्तुत: दोनों ही भक्ति के उत्कर्ष के लिए इस्लाम की मौजूदगी को किसी न किसी रूप में स्वीकारते हैं। इस्लाम की यह मौजूदगी भक्त कवियों के काव्य में दर्ज है। किसी सीमा तक यह आन्दोलन सामाजिक कुरीतियों, अमानवीय व्यवस्था तथा शोषण चक्र के विरुद्ध सामान्य जन के सात्विक रोष की अभिव्यक्ति था। इस आन्दोलन के अखिल भारतीय रूप को समझने के लिए हमें कबीर, सूर, तुलसी, जायसी और मीरा के काव्य को एक साथ देखना होगा, क्योंकि प्रत्येक कवि ने सामाजिक विषमता के किसी एक पक्ष का ही बहुलता से चित्रण किया है। यहाँ हम संत काव्यधारा के महत्व को विशेष रूप से रेखांकित कर रहे हैं। अन्य कवियों के विषय में आप इस खंड की अन्य इकाइयों से महत्वपूर्ण जानकारी ले सकते हैं। भक्ति आंदोलन में संतों की भूमिका को स्पष्ट करते हुए गजानन माधव मुक्तिबोध कहते हैं : "पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किए। अपना साहित्य और गीत सृजित किये। कबीर, रैदास, नाभा, सिंगा, सेना नाई आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलन्द की। समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरुद्ध नया विचारवाद अवश्यंभावी था, वह हुआ। संक्षेप में भक्ति आंदोलन का जनसाधारण पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा, सामान्य जनता कुलकानि, लोकरूढ़ि, अन्धविश्वास, धार्मिक, आडम्बर, कट्टरता के विरुद्ध कमर कस कर खड़ी हो गई।''

6.6 प्रमुख संत कवि

हम यहाँ संत साहित्य में योगदान देने वाले कुछ प्रमुख संत कवियों का परिचय दे रहे हैं साथ ही उनके साहित्य के विषय एवं विशेषताओं का भी उल्लेख कर रहे हैं :-

नामदेव

इनका जन्म 1329 को सतारा के नरसी वमनी (बहमनी) गाँव में हुआ था। अपने पैतृक व्यवसाय की ओर इनकी रुचि नहीं थी, अत: बचपन से ही साधुसेवा एवं सतसंग में अपना जीवन बिताते रहे। संत विसोवा खेचर इनके गुरु थे तथा प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर के प्रति भी इनकी गहरी निष्ठा थी। मराठी में रचित अभंगों के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में भी इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं। सधुक्कड़ी भाषा में रचित इनकी रचनाओं में निर्गुणोपासना, कर्मकाण्ड का खण्डन तथा ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया गया है :

> "जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जलते भिन न होई।
> इहु परपंचु पारब्रह्म की लीला, विचरत आन न होई।।
> मिथिआ भरमु अरु सुपन मनोरथ, सति पदारथु जानिआ।
> सक्रित मनसा गुर उपदेसी, जागत ही मनु मानिआ।।
> कहत नामदेउ हरि की रचना, देषहु रिदै बीचारी।
> घट-घट जंतरि सरब निरन्तरि, केवल एक मुरारी।।"

संत नामदेव छीपा दर्जी थे। वे गज, कैंची और सुई धागे के माध्यम से ही भक्ति-रहस्य उद्घाटित करते थे। सामान्य जन उनकी आजीविका के कार्य से परिचित थे अत: उनकी रूपक-योजना को सही ढंग से समझने में वे सक्षम थे।

कबीरदास (1456-1575)

इनके जन्म-काल, जीवन-मरण तथा जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं के विषय में किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म काशी की एक विधवा ब्राह्मणी के घर में हुआ था। किन्तु लोकभय से वह इन्हें लहरतारा ताल के निकट छोड़ आई। इनका पालन-पोषण नीरू-नीमा नामक जुलाहा दम्पत्ति ने किया। रामानन्द इनके दीक्षा गुरु थे, उनसे नाम का मंत्र लेने के लिए ये पंचगंगा घाट की उन सीढ़ियों पर जा पड़े जहाँ से प्रात:काल रामानन्द स्नान करने जाते थे। अंधेरे में रामानन्द के चरण कबीर साहब पर पड़ गए और रामानन्द जी बोल उठे 'राम राम कह'। आगे चलकर यही मंत्र मानुष सत्य के महान् लक्ष्य की प्राप्ति में तथा वैषम्य के दुराग्रहों को छोड़कर सामाजिक न्याय और समानता की स्थापना में सहायक हुआ। कबीर ने 'मसि कागद' नहीं छुआ, इन्होंने आत्म-चिंतन एवं लोक निरीक्षण से जो ज्ञान प्राप्त किया, उसी को निर्भयतापूर्वक अपनी साखियों और पदों में अभिव्यक्त किया। इन्होंने वर्णाश्रम धर्म में प्रचलित कुरीतियों को ही नहीं, लोक में प्रचलित अपधर्म (जादू-टोना, मंत्र-तंत्र, टोटका आदि) को भी पहचाना : 'ताथै कहिये लोकाचार वेद कतेब कथै व्यवहार'। कबीर साहसी और तेजस्वी व्यक्तित्व के धनी थे। उनकी कथनी और करनी में जबरदस्त एकरूपता थी। जनता को सम्बोधित करके परीक्षा के क्षणों में पीछे हट जाने वाले उपदेशक वे न थे। वे ऐसे कर्मयोगी थे जो अंधविश्वासों की खाई पाटने के लिए अपना घर जलाने को (आत्मोत्सर्ग) तैयार थे। काशी को देवभूमि मानकर यह विश्वास किया जाता है कि जिस व्यक्ति की मृत्यु तपोभूमि में होगी यह मरणोपरान्त अवश्य ही श्रेष्ठ स्थान का अधिकारी होगा और जो व्यक्ति मगहर में कालकवलित होगा वह अगले जन्म में निकृष्ट योनि में जन्म लेगा। लोक में फैले इस अंधविश्वास को तोड़ने के लिए जीवन के अन्तिम समय में कबीर मगहर में जाकर रहने लगे। उन्होंने सिद्ध किया कि 'एक जीव ते सब जग उपज्या कौन भला कौन मंदा' और इसी प्रकार यह अंधविश्वास भी तोड़ा : 'जो काशी तन तजै कबीरा तो रामहि कहा निहोरा रे'।

कवि के रूप में कबीर जीवन की सहजता के अधिक निकट हैं। उनकी कविता में छंद, अलंकार, शब्द-शक्ति आदि गौण हैं और लोकमंगल की चिंता प्रधान है। इनकी वाणी का संग्रह इनके अनुयायियों ने 'बीजक' के नाम से किया है। इसके तीन भाग हैं : 'रमैनी', 'सबद' और 'साखी'। 'रमैनी' और 'सबद' में

गाने के पद हैं तथा साखी दोहा छंद में लिखी गई है। सिखों के गुरु ग्रंथ साहब में भी कबीर के नाम से 'पद' तथा 'सलोकु' संग्रहीत हैं। इन रचनाओं में कबीर साहब ने जाति-पाँति, छुआ-छूत अंधविश्वास, रूढ़िवादी दृष्टिकोण, पूजा-अर्चना तथा धार्मिक कर्मकाण्ड का विरोध किया है। वे ऐसे साधक थे, जिसने वेदान्त के सत्य और पारमार्थिक सत्य को पृथक-पृथक नहीं माना, अपितु सत्य को भक्ति से सहज की प्राप्य बताया। कबीरदास की अभिव्यंजना शैली बहुत सशक्त थी। इनकी भाषा मूलत: तो पूरब की है, किन्तु, उसमें अन्य बोलियों का भी मिश्रण होने के कारण उसे सधुक्कड़ी कहा जाता है। इनके काव्य में प्रतीक योजना का सुन्दर निर्वाह हुआ है। ये प्रतीक दाम्पत्य एवं वात्सल्य जीवन की विविधता का संकेत करते हैं। साथ ही इनकी कविता में सांकेतिक प्रतीक, पारिभाषिक प्रतीक, संख्यामूलक प्रतीक, रूपात्मक प्रतीक तथा प्रतीकात्मक उलटबाँसियों के भी उदाहरण मिलते हैं। रहस्यवाद के व्यंजक पदों में भी इन्होंने प्रतीक योजना का सहारा लिया है। छन्द, अलंकारादि (प्रयत्नसाध्य) शैलीगत उपकरणों के प्रति इनके मन में कोई निष्ठा नहीं है।

रैदास

मध्ययुगीन साधकों में संत रैदास अथवा रविदास के जीवनकाल की तिथि के विषय में कुछ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता। इनके समकालीन धन्ना और मीरा ने अपनी रचनाओं में बहुत श्रद्धा के साथ इनका नामोल्लेख किया है। ऐसा माना जाता है कि ये कबीर के समकालीन थे। 'रैदास की परिचई' में उनके जन्मकाल का उल्लेख नहीं है। अत: समकालीन व्यक्तियों को प्रमाण मानकर कहा जा सकता है कि इनका जन्म संभवत: पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ होगा। रैदास की कविता में सामाजिक विषमता के प्रति विरोध है। उन्होंने वर्णवादी व्यवस्था की असमानता के प्रति आक्रोश प्रकट किया है। वह कविता में बार-बार अपने को चमार कहकर संबोधित करते हैं। यह एक प्रकार से कवि का प्रतिरोध ही है। जाति-प्रथा और कर्मकाण्ड को उन्होंने तोड़ने का उपदेश दिया। उनकी कविता में मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि बाह्य विधान का विरोध किया गया है। रैदास ने जन सामान्य को निश्छल भाव से भक्ति की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया।

अब कैसे छूटै राम, नाम रट लागी।
प्रभु जी तुम चंदन हम पानी, जाकी अंग-अंग बास समानी।
प्रभु जी तुम धन बन हम मोरा, जैसे चितवत चन्द चकोरा।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती।
प्रभुजी तुम मोती हम धागा, जैसे सोने मिलत सुहागा।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा।

इनकी रचनाओं का कोई व्यवस्थित संकलन नहीं है, वह मात्र फुटकल रूप में ही उपलब्ध होता है। 'आदिग्रंथ' में इनके कतिपय पद मिलते हैं। अनन्यता, भगवत्-प्रेम, दैन्य, आत्मनिवेदन और सरल हृदयता इनकी रचनाओं की विशेषता है। संत 'रविदास' रामानन्द के बारह शिष्यों में से एक थे।

गुरुनानक देव

नानक पंथ के प्रवर्तक गुरुनानक देव जी का जन्म सं. 1526 के वैशाख मास की तृतीया को तिलवंडी ग्राम में हुआ था। गुरुनानक देव की बचपन से ही अध्यात्म में रुचि थी। अत: वे ऐसे मत की ओर सहज रूप से आकर्षित हो गए जिसकी उपासना पद्धति साम्प्रदायिक न हो। कबीर दास प्रवर्तित 'निर्गुण संतमत' इन्हें अपने विचारों के अनुकूल जान पड़ा। इनकी बानियों का संग्रह 'आदिग्रंथ' के 'महला' नामक खंड में हुआ है। इनमें 'शब्द' और 'सलोकु' के साथ, 'जपुजी', 'आसादीवार', 'रहिरास' एवं 'सोहिला' का भी संग्रह है। इनकी रचनाओं में धार्मिक विश्वास, नाम स्मरण, एकेश्वरवाद, परमात्मा की सर्वव्यापकता, विश्व प्रेम, नाम की महत्ता आदि का परिचय मिलता है। नानकदेव की वाणी का प्रत्येक उद्गार अनुभूति की गहराई से निकला प्रतीत होता है। सरलता और अहंभावशून्यता इनकी प्रकृतिगत विशेषताएँ हैं। निरीहता एवं दैन्य की अभिव्यक्ति में ये रैदास के समतुल्य हैं। इनका अधिकांश साहित्य पंजाबी में है, किन्तु कहीं-कहीं ब्रजभाषा-खड़ी बोली का प्रयोग भी मिलता है।

संत दादू दयाल

दादू पंथ के प्रवर्तक दादू दयाल का जन्म गुजरात प्रदेश के अहमदाबाद नगर में सं. 1601 में माना जाता है। इनकी मृत्यु सं. 1660 को राजस्थान प्रान्त के नराणा गाँव में हुई, जहाँ पर इनके अनुयायियों का प्रधान मठ 'दादू द्वारा' वर्तमान है। ये जाति के धुनिया थे। दादू को 'परम ब्रह्म सम्प्रदाय' का प्रवर्तक माना जाता है। बाद में इस परमब्रह्म संप्रदाय को 'दादूपंथ' के नाम से संबोधित किया गया। इनके गुरु कौन थे, इस विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। इनकी आध्यात्मिक अनुभूति बड़ी तीव्र थी। इनकी बानियों का संग्रह 'हरडेवाणी' के नाम से जगन्नाथ दास ने प्रस्तुत किया। इनके प्रमुख शिष्य रज्जब जी ने इसमें पायी जाने वाली त्रुटियों को सुधार कर इसे 'अंगबधु' नाम से प्रस्तुत किया। दादू जी की एक अन्य रचना 'कायाबेलि' है। इन रचनाओं में दादू के संत हृदय की स्पष्ट छाप मिलती है। इनकी बानी में ईश्वर की सर्वव्यापकता, सद्गुरु महिमा, आत्मबोध, संसार की अनित्यता का निरूपण हुआ है। संत दादू की विचारधारा कबीर से प्रभावित है। परन्तु दादू की कविता में टकराहट का भाव नहीं मिलता है। उन्होंने सगुण और निर्गुण की बौद्धिक टकराहट से कविता को दूर रखा। उनकी कविता में प्रेमभाव की अभिव्यक्ति है। यह प्रेम निर्गुण निराकार ईश्वर के प्रति है:

> भाई रे! ऐसा पंथ हमारा।
> द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अबरन एक अधारा।
> बाद विवाद काहू सौं नाहीं मैं हूं ना जग थें न्यारा।।
> समदृष्टि सूँ भाई सहज में आपहिं आप बिचारा।
> मैं तैं मेरी यह मति नाहीं निरबैरी निरविकारा।।
> काम कल्पना कदे न कीजै पूरन ब्रह्म पियारा।
> एहि पथि पहुँचि पार गहि दादू सो तब सहज संभारा।।

निर्गुण भक्त कवि होने पर भी इन्होंने ईश्वर के सगुण स्वरूप को मान्यता दी है। इनकी रचनाओं की भाषा राजस्थानी है, जिसमें गुजराती, सिंधी, पंजाबी, फारसी आदि के प्रयोग भी मिलते हैं।

संत सुन्दरदास

संत दादूदयाल के योग्यतम शिष्य सुन्दरदास का जन्म सं. 1653 में जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी धौसा नगर में हुआ था। इनका महाप्रस्थान सांगनेर में सं. 1746 में हुआ। देशाटन इन्हें बहुत प्रिय था, पूर्व में बंगाल, पश्चिम में द्वारिका, उत्तर में बदरिकाश्रम और दक्षिण में मध्यदेश तक इन्होंने यात्रा की। भ्रमण के समय ये दादू के सिद्धान्तों का प्रचार करते थे और साथ ही साथ काव्य ग्रंथों की रचना भी करते थे। इनके बयालीस ग्रंथ कहे जाते हैं, जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'सुन्दर विलाप' है। समाज की रीति, नीति तथा भक्ति पर इन्होंने विनोदपूर्ण उक्तियाँ कही हैं। निर्गुण संत काव्यधारा में एक प्रकार की अनगढ़ता मिलती है। इस काव्यधारा की कविता पर किसी प्रकार के शास्त्रीय अनुशासन का अंकुश नहीं होता था लेकिन सुंदरदास की कविता में शास्त्रीय अनुशासन है। उन्होंने कविता के लिए अलंकार और छंद का कुशल प्रयोग किया है। इसी प्रकार कविता में निर्गुण सगुण विवाद को तार्किक रूप में रखा है। लोकजीवन की रूढ़ियों के विरोध और विद्रोह का स्वर उनमें नहीं है। सुंदरदास की कविता को पढ़ने पर यह पता चलता है कि धीरे-धीरे निर्गुण भक्ति का आक्रोश भी मंद पड़ गया था। निर्गुण भक्ति काव्य शास्त्रीय बंधन में बँधने को तैयार होने लगा था।

> "गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेंह लगाइ कै देह संवारी।
> मेह सहे सिर सीत सहे तन धूप सभै जो पंचागिनि बारी।
> भूख सही रहि रुख तरे पर सुंदरदास सबै दुख भारी।
> डासन छाँड़ि कै कासन ऊपर आसन मारयो तै आस न मारी।।"

निर्गुण भक्त कवि होने पर भी उन्होंने ईश्वर के सगुण स्वरूप को मान्यता दी है। इनकी रचनाओं की भाषा राजस्थानी है, जिसमें गुजराती सिंधी, पंजाबी, फारसी, आदि प्रयोग भी मिलते हैं।

संत मलूकदास

संत मलूकदास का जन्म इलाहाबाद के कड़ा नामक गाँव में सं. 1631 में हुआ। 106 वर्ष की अवस्था में

इनकी मृत्यु सं. 1739 में औरंगज़ेब के समय में हुई। इनके दीक्षा गुरु कौन थे, इस संबंध में इतिहासकारों में मतभेद बना हुआ है। एक मत के अनुसार ये कील के शिष्य थे, तथा दूसरा मत इन्हें द्राविड़ विट्ठल का शिष्य बताता है। मलूकदास के प्रामाणिक ग्रंथ हैं : 'ज्ञानबोध', 'ज्ञानपरोछि, 'रामअवतारलीला', 'रत्नखान', भक्तवच्छावली' 'भक्ति विवेक' 'विभवविभूति', 'सुखसागर', 'ब्रजलीला', 'ध्रुवचरित' आदि। जिनमें 'रत्नखान' और 'ज्ञानबोध' दो प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। मलूकदास की कविता में आख्यानशैली का प्रयोग मिलता है। इन्होंने विविध कथाओं का दृष्टांत देकर लोगों को इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मोपासना आदि का उपदेश दिया है। अवतारों और चरित्रों से संबंधित इनकी रचनाएँ भी मिलती हैं। आत्मबोध और वैराग्य मलूकदास की कविता के मुख्य सरोकार हैं।

> "कहत मलूक जो बिन सिर खेपै सो यह रूप बखानै।
> या नैया के अजब कथा, कोइ बिरला केवट जानै।
> कहत मलूक निरगुन के गुन कोइ बड़भागी गावै।
> क्या गिरही औ क्या बैरागी जेहि हरि देये सो पावै।।"

इन्होंने अवधी और ब्रजभाषा में काव्य रचना की, तथा इनकी भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग मिलता है। कुल मिलाकर इनकी भाषा व्यवस्थित और सुन्दर है। इन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान भाव से उपदेश दिया।

6.7 प्रमुख प्रवृत्तियाँ

संत साहित्य का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि सभी संत कवि निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल देते हैं। सामान्य जन को निर्गुण राम की उपासना का व्रत देकर, निर्गुण पंथ के इन कवियों ने भक्ति को, लोक में सामरस्य स्थापित करने का माध्यम बनाया। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति सद्गुरु द्वारा दिए गए ज्ञान से ही हो सकती है। उनके अनुसार लोक में फैले माया जाल के आवरण को भेद कर ज्ञान के चक्षुओं को खोल कर साक्षात् सत्य रूपी परब्रह्म का साक्षात्कार सद्गुरु द्वारा दिए गए ज्ञान से ही संभव है। इस ज्ञान के महात्म्य ने समाज की वैषम्यतामूलक स्थिति की ओर संत कवियों का ध्यान आकृष्ट किया। लोक प्रवर्तित यही दृष्टि आगे चलकर समन्वित रूप में लोकधर्म के रूप में प्रचलित हुई। आइए, अब हम संत काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों की चर्चा करें :-

6.7.1 भक्ति निरूपण

संत कवियों के लिए भक्ति शान्ति की खोज में आए साधक की शरणभूमि न थी। यह उनकी कर्मभूमि थी। इसी से वे लोक हृदय को आस्था का संबल दे सके तथा सामाजिक ऐक्य की स्थापना के लक्ष्य की ओर प्रयत्नशील हो सके। प्रचलित सामान्य अर्थ में ईश्वर के प्रति सहज आसक्ति ही भक्ति है। इसमें श्रद्धा और प्रेम के तत्वों का योग आवश्यक है। प्रेम की दृष्टि से संत काव्य में नारदी भक्ति के प्रेमतत्व के साथ-साथ सूफ़ियों की इश्क़ भावना का प्रभाव भी लक्षित होता है। संत कवियों ने भक्ति के अनुभूति-पक्ष को ही प्रधान रूप से चित्रित किया है। निर्गुण ब्रह्म की प्रतीति ज्ञान के द्वारा ही की जा सकती है। इसी हेतु इन कवियों को ज्ञानमार्गी कहा जाता है। इन्होंने सगुणवाद, अवतारवाद और मूर्तिपूजा आदि को सर्वथा त्याज्य बताया और केवल निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को ही स्वीकार किया। संतों की भक्ति के उपास्य परब्रह्म परमेश्वर हैं। इन्होंने एकमात्र उन्हीं की भक्ति को भवसागर से मुक्ति का एकमात्र साधन बताया है। ईश्वर के प्रति अनुराग प्रकट करने के लिए इनकी साधना पद्धति स्त्रानुभूतिपरक आत्मनिवेदन तथा नामस्मरण की साधना को स्वीकार करती है। अपने निरंजन के प्रति वे दास्य, दैन्य, सख्य, रति, वात्सल्य आदि सभी भावों से अपना हृदय जुड़ाते हैं। संत कवियों के भक्ति भाव में सबसे पहले अहम् का त्याग आवश्यक है। अहम् का नाश होते ही भक्त और भगवान का अन्तर समाप्त हो जाता है। इस प्रकार की भक्ति साधना निश्चित ही बहुत दुष्कर है क्योंकि इसमें साधक को अपने शरीर के भीतर के शत्रुओं को जीतना पड़ता है। जोगी, यती, संन्यासी द्वारा मन को जीतकर ही अहम् का त्याग किया जा सकता है। भक्ति हृदय की प्रवृत्ति है। इसकी दिशा और लक्ष्य आध्यात्मिक हैं, भगवान का सामीप्य प्राप्त कर उसके साथ एकात्म हो जाना ही भक्त का लक्ष्य है। इस स्थिति

में जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं रहता। प्रेम की सुखानुभूति जिस आध्यात्मिक जगत की चीज़ है उसका सिर्फ भावन ही किया जा सकता है :

"अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाय।
गूंगे केरी सरकरा, खाए और मुसकाय।।"

प्रपत्तिपरकता भक्ति भावना का प्राण है। प्रपत्ति का अर्थ है – आत्मनिवेदन। प्रपत्ति, भाव के विविध सोपानों में प्रथम है – 'आनुकूल्यस्य संकल्पः' अर्थात् भगवान के अनुकूल रहने का संकल्प। इसका दूसरा अंग है – 'प्रतिकूल्यस्य वर्जनम्' अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि माया जन्य भावों की निन्दा या प्रतिकूलता। तृतीय अंग – 'रक्षित्यतीति विश्वास' पर बल देता है, अर्थात् भक्त ईश्वर की रक्षणशीलता पर पूर्ण विश्वास करे। 'मोहि राम भरोसो तेरो, और कौन का करूँ निहोरो', आदि उक्तियाँ ईश्वर पर अडिग आस्था का संकेत करती हैं। प्रपत्ति भाव की भक्ति की अन्य विशेषता एकमात्र भगवान के गुणों का वर्णन करना है। संत कवियों की वाणी बार-बार यही कहती है – 'निर्गुण राम जपहु रे भाई'। इसका अन्य अंग 'आत्मनिक्षेप' है। अर्थात् अपने को पूर्णतया भगवान के अधीन कर देना – 'तन मन जीवन सौंपि सरीरा। ताहि सुहागिनी कहै कबीरा।।' निर्गुण भक्ति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता निष्कामना भक्ति है। इस प्रकार भक्ति करने से जीवनकाल में जीवनमुक्ति और देह त्यागने पर मुक्ति मिलती है।

संत कवियों का लक्ष्य सामान्य भक्ति पद्धति का प्रचार करना था, जिसमें भेद-भाव की भावना का परिहार हो सके। नामस्मरण को इन्होंने साधना का आधार माना है। हरि नाम सुमिरन ही मोक्ष प्राप्ति में सहायक है। यह भक्ति प्रेम के माध्यम से कर्मकाण्ड की अनपेक्षित दुरूहताओं को दूर कर देती है। इस प्रकार की साधना भक्ति, आनन्द और शान्ति से संयुक्त शुद्ध अंतःकरण की स्वाभाविक जन्मदात्री है। साधना का यह मार्ग भक्तिपरक ही न था, अपितु, भक्ति के माध्यम से मानवीय न्याय की साधना का युगान्तरकारी प्रयास था।

6.7.2 सामाजिक चेतना

मध्यकालीन भक्ति काव्य मूलतः सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में सामने आता है। भक्ति आन्दोलन ने समाज से अन्त्यजों को सम्मानपूर्वक जीवन यापन करने की आशा का संचार किया। यह मध्यकालीन जागरण, लोक जागरण, भारतीय जागरण अर्थात् जन आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। विभिन्न वर्ग एवं वर्णों के वितण्डतावादी स्वरूप, वर्ग संघर्ष, धार्मिक भेदभाव, विधि निषेधों से जर्जरित भारतीय जीवन में भक्ति आन्दोलन मनुष्य सत्य के स्वप्न को संजोता है। यह आन्दोलन रूढ़िग्रस्त समाज और उसकी अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध आक्रोश तथा जिजीविषा की तीव्रतम अभिव्यक्ति था। भक्ति आंदोलन के विषय में 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध' पुस्तक में गजानन भाधव मुक्तिबोध लिखते हैं – 'भक्ति आंदोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना अन्य किसी आन्दोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किए। कबीर, रैदास, सेना, पीपा आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द की। समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरुद्ध नया विचारवाद अवश्यंभावी था, वह हुआ।' सगाज की निम्न समझी जाने वाली जातियों में जन्मे इन कवियों ने समझौते का रास्ता छोड़कर विद्रोह का क्रांतिकारी मार्ग अपनाया। भक्ति ने इन कवियों में वह बल भर दिया कि ये डंके की चोट पर घोषित करते हैं कि इनकी जाति निम्न है –

"जाके कुटुम्ब ढोर ढोवंत फिरहिं अजहुँ बानारसी आसपास।
आचार सहित विप्र करहिं डंड उति तिन तनै रविदास दासानुदासा।।"

समाज को सुख की नींद में सोया हुआ देखकर संतों का विरोध उग्र रूप धारण कर लेता है। अपने ज्ञान चक्षुओं से ये संत युग की पीड़ा का साक्षात्कार कर रहे थे। उनके अन्तर्मन से उद्भाषित वाणी उनकी वास्तविक पीड़ा की परिचायक है –

'सुखिया सब संसार है, खावे और सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवे।।"

संतों का समय राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक दृष्टि से उथल-पुथल का समय था। एक ओर हिन्दू समाज

की शास्त्रीय धर्म पर आधारित वर्णाश्रमवादी व्यवस्था थी जिसका विरोध बौद्ध सिद्ध-नाथ आदि ने भी किया, तो दूसरी ओर इस्लाम की धार्मिक, कट्टरता, उग्रता और सामाजिक विषमता थी। इन दोनों ही स्थितियों में व्यवस्था के दुष्चक्र में आम आदमी पिस रहा था। उस कठिन समय में खतरा मनुष्यता को था। ऐसे समय भारतीय संस्कृति को आस्था का सम्बल प्रदान करने का श्रेयस्कारी कार्य संत कवियों द्वारा हुआ। इन कवियों की मनुष्यता में अटूट आस्था थी और निर्भीकता इनकी सम्पत्ति थी। 'मानुष सत्य' सन्त कवियों का ही नहीं, समग्र भक्तिकाल के कवियों का मानव मूल्य था। संत कवि ईर्ष्या, क्रूरता, कामुकता, कपट, लोभ, मोह, अहंकार की आलोचना करते थे और प्रेम, स्नेह, करुणा, दया, ममता, उदारता, अहिंसा और समता का विकास चाहते थे। इनकी रचनाएँ सामाजिक अव्यवस्था, अनैतिकता तथा अनावश्यक विडम्बनाओं के विरोध में रची जाती थीं। शास्त्रीय धर्म ने सत्य को विभाजित करके देखा - पारमार्थिक सत्य और लौकिक सत्य। अर्थात् भक्ति के क्षेत्र में तो सब समान हैं, किन्तु सांसारिक विधि-विधानों का पालन करना भी आवश्यक है अत: जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था का महत्व भी है। निर्गुणवादी संत कवियों ने उस दोहरे आचरण की व्यवस्था पर तिलमिला देने वाले प्रश्नों की बौछार की। उन्होंने स्पष्ट किया कि सत्य विभाजित नहीं हो सकता। उस समय समाज को खतरा शास्त्रीय आडम्बरों और कर्मकाण्डों से ही नहीं, लोकाचार संबंधी कुरीतियों से भी था। कबीर आदि संतों ने इसे भली भाँति पहचाना। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है - उस समय लोक में यह मान्यता प्रचलित थी कि जो व्यक्ति काशी में देह त्याग करेगा, वह स्वर्गवासी होगा और जिस व्यक्ति की मृत्यु मगहर में होगी, उसका अगला जन्म निकृष्ट योनि में होगा। इस लोकरूढ़ि को तोड़ने के लिए कबीर सामने आए, जिन्होंने अपना सारा जीवन काशी में बिताया, किन्तु अन्तिम समय में मगहर चले गए। ऐसे थे कबीर आदि संत।

6.7.3 सद्गुरू की महत्ता

संत कवियों ने सांसारिक माया के आवरण से अतीत परब्रह्म निरुपाधि ईश्वर के साक्षात्कार के लिए सद्गुरु के महत्व को स्वीकारा है। यह सद्गुरु लोक वेद की असारता द्योतित करते हुए ज्ञान रूपी प्रकाश के दीप को प्रज्ज्वलित करता है। आत्मा ईश्वर (पिया) से मिलने के लिए व्याकुल है। सात्विक भाव से सारा अंग शिथिल और रोमांचित हो जाता है। पैर आगे नहीं बढ़ते, प्रीति की आशंका से मन अस्थिर हो जाता है, मिलन हो तो कैसे हो ? सद्गुरु का उपदेश ही इस विपत्ति में सहारा है -

पिया मिलन की आस, रहों कंबलौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय, मने लज्जा भरी।।
छोरा कुमति-बिकार, सुमति गहि लीजिए।
सतगुरु शब्द संहारि, चरन चित्त दीजिए।।

जिस दिन से संत कबीर ने गुरू रामानन्द से राम नाम की दीक्षा ली, उस दिन से उन्होंने श्रेष्ठ सहज समाधि में भी दीक्षा ली। उनका चलना ही परिक्रमा रूप हो गया और काम-काज ही सेवा हो गए, सोना ही प्रणाम बन गया और बोलना ही नाम सुमिरन हो गया। यह सब गुरू की कृपा से ही हुआ। अत: भक्ति के मार्ग पर सद्गुरु ही ऐसा है जो चंचल मन को पंगु बना देता है और तत्व में तत्वातीत को दिखा देता है। वह प्रेम का ऐसा प्रसंग दिखाता है कि प्रेम के मेघों की वर्षा से सारा शरीर भीग जाता है और रससिक्त आत्मा कह उठती है -

कबिरा बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ।
अंतरि भीगीं आत्मा, हरी भई बनराइ।।
पूरे सूँ परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मा, तापैं सदा हजूरि।।

गुरु कृपा से ही शिष्य संसार के समस्त बन्धनों से मुक्त हो सकता है। सन्त कवियों ने गुरु को मुक्ति के पर्याय रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने ज्ञान, भक्ति और योग आदि समस्त संदर्भों में गुरु के महत्व को मान्यता दी है।

6.7.4 संत काव्य में राम

संत कवियों के राम सोपाधि ब्रह्म न होकर निरुपाधि ब्रह्म हैं। वे अवतार लेकर धरती पर नहीं आते, न ही

ये दशरथ के सुत हैं। सगुण और निर्गुण दोनों ही कवि संसार को माया जन्य मानकर इससे मुक्ति के लिए नामोपासना पर बल देते हैं। तुलसी (सगुणकवि) और कबीर (निर्गुण कवि) इस हेतु राम नाम के महात्म्य को स्वीकार करते हैं किन्तु इनकी उपासना की पद्धतियों में अन्तर है। 'राम' नाम की समानता होने पर स्वरूपगत अन्तर का मुख्य कारण 'लीला' और 'अवतार' का अन्तर है। रामानन्द आकाश धर्मा गुरु थे। उन्होंने सगुण और निर्गुण दोनों कवियों को राम नाम का मंत्र दिया। तुलसी के राम अवतारी है। अवतार लेकर शक्ति, शील आदि से भक्तों की इच्छापूर्ति करते हैं। निर्गुण कवियों के 'राम' ब्रह्मस्वरूप हैं। वे अगम, अगोचर, अतीन्द्रिय, अविनाशी, अनिवर्चनीय हैं। वे जन्म मरण से परे हैं।

> "जाके मुँह माया नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
> पुहुप बास ले पातरा, ऐसा तत्व अनूप।।''

इस परं ज्योतिर्मय प्रकाश पुंज के दिव्य एवं घट-घट वासी स्वरूप का अनुभव सद्गुरु का प्रसाद पाकर ही किया जा सकता है। अत: निर्गुण राम ज्ञानधारित है। कबीर ने राम को भावगम्य बनाने का प्रयत्न किया है। साधक जब सहज होकर 'राम' का अनुध्यान करता है, तन्मयता के क्षण में राम की अनुभूति होती है।

6.7.5 रहस्यवाद

"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक आत्मा से अपना शान्त और निश्छल सम्बंध जोड़ना चाहती है। यह संबंध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता ...... आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा में आत्मा के गुणों का प्रदर्शन।'' (रामकुमार वर्मा) दर्शन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। आत्मा द्वारा परमात्मा के तदाकार के तीन चरण हैं। प्रथम चरण में आत्मा परमात्मा की ओर आकर्षित होती है। द्वितीय चरण में आत्मा परमात्मा से प्रेम करने लगती है। यह प्रेम इतना तीव्र होता है कि सांसारिक वस्तुएँ मायाजन्य एवं नश्वर प्रतीत होने लगती हैं। तृतीय चरण में आत्मा और परमात्मा में अभिन्न संबंध स्थापित हो जाता है। संतकाव्य में रहस्यवाद, शंकर के अद्वैतवाद, नाथों की योग साधना और सूफियों की प्रेम साधना द्वारा आया। अद्वैतवाद रहस्यवाद का प्राण है, जो मानता है कि आत्मा और परमात्मा वस्तुत: एक ही हैं, जिनके मध्य माया का आवरण पड़ा हुआ है। इस माया जन्य ठगिनी का नाश होते ही आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है :

> "जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
> फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यहु तत कथ्यौ गियानी।।''

ज्ञानोदय होते ही अद्वैतवादी स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। रहस्य की चरम परिणति उस समय सामने आती है जब आत्मा और परमात्मा दोनों एकाकार हो जाते हैं :-

> "हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं,
> हरि न मरै हम काहे को मरिहैं।''

सूफी मत के अनुसार शरीयत, तरीकत, हकीक़त, मारीफत के मार्ग पर चलकर आत्मा और परमात्मा का एकीकरण संभव है। सूफी साधना में प्रेम तत्व की प्रधानता है। संत कवि का भी कहना है :

> "गुरु प्रेम का अंक पढ़ाय दिया
> अब पढ़ने को कछु नहिं बाकी''

रहस्यवादी का शरीर हर समय अलौकिक आनन्द में मग्न रहता है। सूफी मत ईश्वर को स्त्री रूप में देखता है। संत कवियों ने दाम्पत्य संबंध के भाव को इन्हीं से ग्रहण किया है किन्तु वे ईश्वर की कल्पना पुरुष रूप में करते हैं। नाथों की योगसाधना का प्रभाव कबीरादि संतों की उलटबाँसी रचनाओं में देखा जा सकता है।

6.7.6 प्रेम लक्षणा भक्ति

सूफी मत में प्रेम का बहुत महत्व है। सूफ़ी परमात्मा को प्रेम स्वरूप मानते हैं। नि:स्वार्थ प्रेम सूफीकाव्य की आत्मा है। उनके काव्य में प्रेम का संबंध तीव्र होने पर ही परमात्मा की अनुभूति हो पाती है। संतकाव्य में

प्रेमदर्शन सूफी काव्य के प्रभावस्वरूप ही आया। इसी से संत काव्य में प्रेमलक्षणा भक्ति का जन्म हुआ। प्रेम की तीव्र अनुभूति में उस अनादि तत्व के प्रति ऐसी लगन लग जाती है कि संसार की कोई स्मृति नहीं रहती। काया के स्वरूप की चिंता नहीं रहती -

"हरि रस पीया जानिये, कबहूँ न जाय खुमार।
मैं मन्ता घूमत फिरै, नाही तन की सार।।''

संतों की प्रेम पद्धति मूलत: भारतीय ही रही है। सूफी मत में ईश्वर को स्त्री रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु संत कवि परमात्मा को प्रियतम और स्वयं को प्रियतमा रूप में चित्रित करते हैं 'हरि मोर पिउ मैं हरि की बहुरिया' कहकर कबीर इस प्रेम संबंध को उद्घाटित करते हैं। इसके अतिरिक्त संत कवियों ने ईश्वर के साथ पिता, माता, सखी आदि संबंधों को भी रूपायित किया है।

6.7.6 अद्वैतवाद

संत कवियों की बानी पर शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव भी लक्षित होता है। शंकर के अद्वैतवाद में आत्मा और परमात्मा में कोई मूलभूत अंतर नहीं माना गया। आत्मा और परमात्मा, उनके मध्य की दूरी माया के आवरण के कारण ही है। कबीर आदि संत भी माया के आवरण को इसी रूप में चित्रित करते हुए कहते हैं कि जिस दिन माया का यह आवरण हट जाएगा उसी दिन आत्मा और परमात्मा का एकीकरण संभव है। 'माया महाठगिनी हम जानी' कहते हुए संत कवि माया का आवरण हटाने के लिए उपासना पद्धति पर बल देते हैं। अद्वैतवाद की झलक कबीर की इन पंक्तियों में लक्षित होती है -

"पावक रूपी सांइयां, सब घटा रहा समाय।
चित चकमक लागे नहीं, ताते बुझ बुझ जाय।।''

6.8 अभिव्यंजना पक्ष

संत कवियों की बानी में हृदय के सहज, सरल अनुभूतिगम्य भावों के निर्द्वन्द्व उद्गार व्यक्त हुए हैं। ये कवि अधिकांशत: निम्न जाति से संबद्ध थे तथा तद्युगीन विषमता के चलते, इनके लिए शिक्षा-दीक्षा के पर्याप्त अवसर भी न थे। अनुभूति प्रेरित इनकी कविता प्रकृति के समान सहज और हर तरह के कलावादी संस्कारों से अछूती थी। मनीषियों द्वारा विवेचित अभिव्यंजना की विविध युक्तियाँ संतों के लिए साधन थे, साध्य नहीं। जन भाषा में काव्य रचना करने वाले कबीरादि संत भाषा के सामने लाचार नहीं थे, बल्कि भाषा पर इन्होंने ऐसा अधिकार कर लिया था, कि इस सहजता में भी तीखापन था, सादगी में भी प्रखरता थी। 'इन्होंने जब जैसा चाहा भाषा का वैसा प्रयोग किया, बन गया तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर।' (हजारी प्रसाद द्विवेदी) आइए, अब हम संत काव्य के अभिव्यंजना पक्ष की विशेषताओं पर विचार करें।

काव्य भाषा

संत कवियों की भाषा पर विचार करते समय प्राय: उसे अव्याकरणिक, अशुद्ध, अव्यवस्थित और अकाव्यात्मक कहा जाता है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि सन्त कवियों की भाषा अपने समय के समाज की भाषा है, वह लोक व्यवहार की सादगी और उत्साह को समेटे हुए है। इन कवियों ने अभिव्यक्ति के लिए ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी, हरियाणवी, पंजाबी, खड़ी बोली, अरबी-फारसी, उर्दू, सिंधी, निमाड़ी की शब्दावली का प्रयोग निस्संकोच भाव से किया है। भाषा के इस विस्तार से ज्ञात होता है कि संत कवि इस देश की भाषिक विविधता से परिचित थे तथा वे व्यापक समाज से जुड़ने को इच्छुक थे। उन्होंने भारतीय समाज के सुख-दु:ख, आशा-आकांक्षा, विरह-वेदना, नैतिकता, शील आदि को व्यक्त करने के लिए देव भाषा संस्कृत का प्रयोग नहीं किया, अपितु जन व्यवहार की भाषा को ही अपनाया। आलोचकों ने इस भाषा की शक्ति एवं तेवर को लक्षित न करके इस पर आक्षेप किया है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं : 'नाथ पंथ के इन जोगियों ने परम्परागत साहित्य की भाषा या काव्यभाषा से, जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक 'सधुक्कड़ी' भाषा का सहारा लिया, जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी का था।'' आ० श्यामसुन्दर दास इनकी भाषा को 'गँवारू' कहते हैं। 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है, क्योंकि वह खिचड़ी है। ..... कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। इसी से वे

बाहरी प्रभावों के बहुत अधिक शिकार हुए। भाषा और व्यवहार की स्थिरता उनमें नहीं मिलती, उनकी भाषा में अक्खड़पन है और साहित्यिक कोमलता या प्रसाद गुण का सर्वथा अभाव है। कहीं-कहीं उनकी भाषा बिल्कुल गँवारू लगती है।' (कबीर ग्रंथावली की भूमिका : आ० श्याम सुन्दर दास)

वस्तुत: जनभाषा की शक्ति को पहचान कर भक्तिकाल के कवियों ने भाषा संबंधी जो विचार व्यक्त किए हैं, उसी में इन आक्षेपों का उत्तर भी पाया जा सकता है :

'का भाषा, का संस्कृत, प्रेम चाहिए सांच।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमांच।।''

संतकाव्य में पूर्णरूप से भावानुकूल भाषा का प्रयोग है, इसलिए सन्तों की अनुभूति की सफल और सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। जहाँ पर ज्ञान और योग का संदर्भ है, वहाँ पारिभाषिक शब्दावली का सहज प्रयोग किया गया है -

"इंगला प्यंगुला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगिनि परजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुगवारी।''

जहाँ पर हृदय से निकलने वाले भावों का सहज प्रवाह है, वहाँ पर सुगम और जनसामान्य की भाषा का प्रयोग मिलता है। ऐसी सहज भाषा में विभिन्न संदर्भों का स्पष्ट चित्रांकन संभव हो पाया है।

उलटबाँसी शैली

कबीर तथा अन्य निर्गुण कवियों की उलटबासियाँ प्रसिद्ध हैं। पूर्व में इसे 'संध्या भाषा' के नाम से जाना जाता था। 'संध्या भाषा' से तात्पर्य ऐसी भाषा से है जिसका कुछ अर्थ समझ में आए तथा कुछ अस्पष्ट हो, किन्तु इसके प्रतीक खुलने पर ज्ञान के दीपक से सब स्पष्ट हो जाए। योगियों के पारिभाषिक शब्दों में उलटी बानी को प्रभावोत्पादक बनाने की क्षमता है। कबीर दास उलटबाँसी शैली का प्रयोग उस योगी को फटकारने के लिए करते हैं जो स्वयं को तीन लोक से न्यारा कहता है। कबीर के अनेक विचार उलटबाँसियों में अभिव्यक्त हुए हैं। विषय की दृष्टि से उलटबाँसियों के निम्न प्रकार हो सकते हैं - संसार से संबंधित, प्रेम साधना से संबंधित, योग से संबंधित तथा आत्मा-परमात्मा से संबंधित। उलटबाँसी में प्रतीकों का प्रयोग होता है तथा प्रतीक खुलने पर ही इनका अर्थ स्पष्ट होता है जैसे-

मारिअ सासु ननद घरे शाली।
माअ मारिअ कान्ह भइल कपाली।।

इसमें सासु-स्वास, ननद-इन्द्रिय, मा-काया, कपाली-साधक आदि प्रतीकों के अर्थ स्पष्ट होने पर उलटबाँसी का अर्थ भी खुलने लगता है।

प्रतीकात्मकता

संत कवियों ने योगी, सहजयानी तांत्रिकों से प्रश्न करने के लिए उनकी ही प्रतीकात्मक भाषा को काव्य का माध्यम बनाया। इसमें उन्होंने आत्मा, परमात्मा या संसार आदि के लिए कमलिनी, सरोवर, जल, नागिन आदि प्रतीकों की व्यवस्था की है। संत काव्य में प्रयुक्त कतिपय प्रतीक उदाहरण स्वरूप दिये जा रहे हैं :

मन - मच्छ, मीन, जुलाहा, निरंजन, हस्ती आदि।
माया - माता, नारी, बिलैया, गैया आदि।
इन्द्रिय - सखी आदि।
जीवात्मा - पुत्र, पारथ, योगी, भौंरा, मूसा, सिंह आदि।

सेवक भावना को व्यक्त करने के लिए कबीर ने स्वामिभक्त पालतू पशु कुत्ते को प्रतीक रूप में अपनाया है-

"कबिरा कूता राम का, मुतिया मेरा नांउ।
गले राम की जेवड़ी, जित खींचै तित जाउं।।"

संत साहित्य में योग साधना में विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए भी प्रतीकों की योजना की गई है।

कल्पना सौन्दर्य

संत कवियों की काव्य-कल्पना में भावों की तीव्रता प्राञ्जलता एवं सजीवता विद्यमान है। कल्पना के अभाव में काव्य में कमनीयता, चारुता और रमणीयता नहीं आ पाती। संतों की विषयगत विविधता के समान ही उनकी कल्पना का क्षेत्र भी विस्तृत है। ब्रह्म, जीव, जगत और काल विषयक कल्पनाएँ उनके काव्य में सहज सुलभ हैं। उनकी कल्पनाजन्य काव्य सृष्टि में अनुभूति और भावना का आधार बराबर बना रहा है :-

माली आवत देखकर कलियन करी पुकार।
फूल-फूल चुन लिए, काल्हि हमारी बार।।

(कबीर)

साहब तुमहि दयाल हौ, तुम लगि मेरी दौर।
जैसे काम जहाज को, सूझे और न ठौर।।

(कबीर)

गर्व भुलाने देह के, रचि-रचि बाँधे पाग।
सो देहि नित देखि के, चोंच संवारे काग।।

(मलूकदास)

महल मुडेंरी नीम सब, चलै कौन के साथ।
कागा रोला हो रहा, ना कछु लागा हाथ।।

(गरीबदास)

छंद

संत कवियों ने विविध छंदों में रचना करके भी कविता में वैविध्य का परिचय दिया है। उन्होंने प्राय: रमैनी में दोहा, चौपाई और सोरठा का प्रयोग किया है। साखी अधिकतर दोहों में मिलती है। सबद में राग-रागनियों और पदों का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त सोरठा, सार, हरिपद, चौतीसी, बेली, कवित्त, कुंडलियाँ आदि छंद भी संतों की बानी में मिलते हैं। संतों के लिए छन्द साध्य नहीं थे, साधन मात्र थे। सन्त कवियों में सुन्दरदास को काव्य सिद्धान्तों का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने सवैया में भी रचनाएँ की हैं।

काव्य रूप

अनुभूत सत्य को सहज सरल रूप में कहने के लिए संत कवियों को प्रबंधकार कवि के समान भावविधायिनी कल्पना की आवश्यकता न थी। समाज के मार्मिक बिन्दुओं की पूरी पहचान रखते हुए संत कवियों ने अभिव्यक्ति का माध्यम 'मुक्तक काव्य' को बनाया। दो टूक शब्दों में समाज के यथार्थ को उद्घाटित करने का इससे बेहतर साधन न था। मुक्तक काव्य के अन्तर्गत सबसे अधिक सबद, साखी और रमैनी की रचना की गई। आत्मनिवेदन के लिए गेय पद (सबद) का आश्रय संत कवियों ने लिया है। साखी का अर्थ होता है - चश्मदीद गवाह या साक्षी। अत: संत काव्य में सामाजिक आध्यात्मिक अनुभव को साखी के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि साखी का अर्थ ही यह है कि पूर्वतर साधकों की बात पर कबीर साहब अपनी साक्षी या गवाही दे रहे हैं। कबीरदास ने भी कहा है - "साखी आखिन ज्ञान की, समुझि देखि मन माहि।" इसी प्रकार विवरणात्मक रचनाएँ संत कवियों ने दोहा-चौपाई छन्द (रमैनी)

को आधार बनाकर लिखी हैं। संत कवियों की कविता में रमैनी और सबद इन कवियों की गीतात्मक अनुभूति को अभिव्यंजित करते हैं। रमैनी और सबद में भाव और लय का अद्भुत संयोग मिलता है। लय इस बात को सांकेतित करते हैं कि संतों की कविता में लोकजीवन के प्रति गहरा अनुराग है।

"नाचु रे मन मेरो नट होइ।
ग्यांन कै ढोल बजाइ रैनि दिन सबद सुनै सब कोई।
राहु केतु अरु नवग्रह नाचैं जमपुर आनंद होई।।
छापा तिलक लगाई बांसचढ़ि होइ रहु जग तैं न्यारा।
प्रेम मगन होइ नाचु सभा मैं रीझे सिरजनहारा।।"

इसके अतिरिक्त लोक में प्रचलित काव्य रूपों का प्रयोग भी संत कवियों की बानी में मिलता है।

6.9 सारांश

मध्यकालीन संत काव्य धारा ने भक्ति को व्यापक धार्मिक सांस्कृतिक आन्दोलन का स्वरूप प्रदान किया। फलस्वरूप सामाजिक अस्थिरता के उस युग में हिन्दू और मुसलमान के लिए सामान्य भक्ति मार्ग की उद्भावना संभव हो सकी। यह धर्म का ऐसा स्वरूप था जो साधना, प्रेम, अहिंसा, प्रपत्ति का, समन्वय का, लोक हृदयों में सामाजिक समरसता की स्थापना की आशा की किरण सुलगा गया। अपनी उपासना पद्धति में सहज, सरल और निर्विकार आत्मा के महत्व का प्रतिपादन करके भक्ति युग की संत काव्य धारा ने मानवता और मानुष सत्य को अपना लक्ष्य बना लिया। इनकी वाणी में तीक्ष्णता अवश्य दृष्टिगत हुई, किन्तु आत्मा कालुष्य हीन ही रही। इनका लक्ष्य समाज के सभी वर्ग एवं वर्ण के मनुष्यों को ऊर्ध्वान्मुखी विकास के लिए समान धरातल प्रदान करना था। संतों की वाणी काव्यत्व की दृष्टि से भी उतनी ही सशक्त है। यहाँ बल भावों पर है, भाषा सहज ही काव्यत्व के उत्कर्ष का हेतु बन गई है। इसका प्रमुख कारण भाषागत सहजता और लोकभाषा की ओर झुकाव था। इन कवियों के अनुभूति पक्ष ने इन्हें क्रांतिदर्शी कवि बना दिया। देशाटन की प्रवृत्ति और भाव एवं अनुभवों पर आधारित होने के कारण संत कवियों की भाषा सांस्कृतिक विविधता से युक्त होकर विशाल जनसमूह के भावों से जुड़ने में समर्थ हो सकी है।

6.10 अभ्यास प्रश्न

1. संत काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन कीजिए।
2. 'संत' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए संत परम्परा का परिचय दीजिए।

इकाई 7 निर्गुण प्रेममार्गी (सूफ़ी) काव्यधारा

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत आप निर्गुण काव्यधारा की प्रेमाश्रयी (सूफी) शाखा का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- सूफी काव्य की पृष्ठभूमि की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- सूफी मत और सिद्धांत के विधायक तत्वों को पहचान कर उसके स्वरूप को समझ सकेंगे;
- सूफी प्रेमाख्यान के स्वरूप, मूल प्रेरणा, काव्य-परंपरा का अध्ययन करने के पश्चात आप सूफी काव्य के मूल तत्वों से परिचित हो सकेंगे;
- सूफी काव्य की प्रवृत्तियों और उनके वैशिष्ट्य को बता सकेंगे;
- सूफी रहस्यवाद के स्वरूप एवं प्रदेय का विवेचन कर सकेंगे;
- सूफी काव्य के वस्तु एवं शिल्प पक्ष की विशेषताओं का परिचय प्राप्त कर सकेंगे;
- सूफी काव्यधारा के महत्व का प्रतिपादन कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप भक्ति-काव्य की निर्गुण ज्ञानमार्गी संत काव्यधारा का अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई के अंतर्गत आप निर्गुण-भक्ति की दूसरी धारा-प्रेममार्गी धारा के विषय में पढ़ेंगे। सूफी काव्यधारा ने अपने उदार मानवीय दर्शन के माध्यम से सिद्ध कर दिया कि ''एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूपरंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकात्व का अनुभव करने लगता है।'' (रामचंद्र शुक्ल) सूफी कविता का न केवल अंतर्व्यापी-सूत्र वरन् उसकी परंपरा भी इस

कथन की पुष्टि करती है। भावुक मुसलमानों द्वारा प्रवर्तित 'प्रेम की पीर' की यह काव्य-परंपरा अपनी विकास-प्रक्रिया के दौरान हर उदार मानवीय एवं कवि हृदय को अपने में समाती चली गई, बिना संप्रदाय, मत या दर्शन की परवाह किए मानवीय आवेगों ने संकीर्णताओं को बहा दिया और मानवतावादी दृष्टि की स्थापना की। हर स्तर पर व्याप्त बाह्याचार एवं कर्मकांडों की दुनिया में यही उदार दृष्टि इस काव्यधारा का महत्वपूर्ण प्रदेय है जो इसके कालजयी होने का प्रमुख कारण भी है।

7.2 सूफ़ी शब्द का अर्थ

सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा में प्रयुक्त 'सूफ़ी' शब्द के विषय में विद्वानों में मतभेद है। इसकी व्युत्पत्ति अनेक शब्दों से मानी गई है। 'सूफ़ी' शब्द के मूल अर्थ तक पहुँचने में इन विभिन्न मतों की महत्वपूर्ण भूमिका है। पहला मत 'सुफ़्फ़ा' या 'सुफ़' से इसका संबंध मानता है। जिसका अर्थ है - 'चबूतरा'। इस मत के मानने वालों का कहना है कि सऊदी अरब के एक पवित्र नगर मदीना की मस्जिद के सामने के चबूतरे पर एकत्र होकर परमात्मा का चिंतन करने वाले संत ही सूफ़ी कहलाए। 'सूफ़ी' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति 'सफ़' शब्द से कही गई है। इस मत के विचारकों के अनुसार जीवन पर्यन्त सफ़ा अर्थात स्वच्छ एवं पवित्र जीवन व्यतीत करने वाले संत ही सूफ़ी हैं। सूफ़ी वस्तुतः उन्हें ही कहना चाहिए जो मनसा, वाचा एवं कर्मणा पवित्र कहे जा सकते हैं। एक दूसरे मत के अनुसार 'सफ़ा' शब्द यहाँ निष्कपट भाव के लिए व्यवहृत हुआ है, इसलिए 'सूफ़ी' ऐसे व्यक्ति को कहना चाहिए, जो न केवल परमात्मा के प्रति निश्छल भाव रखता है बल्कि तदनुसार सारे प्राणियों के साथ भी शुद्ध बर्ताव करता है (सूफ़ी काल संग्रह - परशुराम चतुर्वेदी) इस शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति 'सोफ़िया' से भी कही गई है जिसका अर्थ है -ज्ञान। इस ज्ञान का वैशिष्ट्य उसकी निर्मलता में निहित है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार निर्मल प्रतिभा संपन्न व्यक्ति ही सूफ़ी कहलाए। कुछ के अनुसार यह शब्द 'सफ़' से निकला है जिसका अर्थ है - सबसे आगे की पंक्ति अथवा प्रथम श्रेणी। यहाँ आगे की पंक्ति या प्रथम श्रेणी में रखने से अभिप्राय क़यामत के दिन ईश्वर के प्रियपात्र होने के कारण सबसे आगे की पंक्ति में खड़े किए जाने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों से है। इसी व्युत्पत्ति क्रम में सूफ़ाह, बनू सूफ़ा शब्द भी आते हैं। 'सूफ़ाह' शब्द का अभिप्राय सांसारिकता से विरत हो खुदा की सेवा में निरत रहने वालों से है और बनू सूफ़ा एक घुमक्कड़ जाति विशेष है। अबू नस्र अल सर्राज, ब्राउन आरबेरी तथा वलीउद्दीन के अनुसार 'सूफ़ी' शब्द की व्युत्पत्ति 'सूफ़' शब्द से हुई है। जिसका अर्थ है - ऊन। इस व्युत्पत्ति के अनुसार मोटे सफेद ऊन के कपड़े पहनकर परमात्मा के प्रेम में मगन रहने वाले फकीर ही सूफ़ी कहलाए। सूफ़ शब्द के इस सामान्य अर्थ के साथ कतिपय अन्य अर्थ भी संबद्ध कहे गए हैं। परशुराम चतुर्वेदी ने आधुनिक पाश्चात्य विचारकों के मतों एवं शब्द की इस व्युत्पत्ति के आलोक में अपना मत स्थिर करते हुए लिखा है - 'सूफ़' एवं सूफ़ी शब्दों के बीच सीधा शब्द साम्य दीखता है।...........ऐसे लोग अपने इन वस्त्रों के व्यवहार द्वारा अपना सादा जीवन तथा स्वेच्छा या दारिद्र्य भी प्रदर्शित करते थे। ये लोग परमेश्वर की उपलब्धि को ही अपना एकमात्र ध्येय मानते थे।........... परमेश्वर के साथ निर्बाध मिलन तथा उसके प्रति सच्चे अनुराग में ही कालयापन करना उनके जीवन का सर्वोच्च आदर्श था, और उसके अतिरिक्त सभी बातों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा करना उनके लिए स्वाभाविक सा हो गया था।''

'सूफ़ीमत साधना और साहित्य' के अन्तर्गत डॉ. रामपूजन तिवारी भी सूफ़ी शब्द को सूफ़ शब्द से बना हुआ कहते हैं। उनका अभिमत है - "सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति नाना प्रकार से की गई है। अधिकांश लोग सूफ़ शब्द से इसका बनना मानते हैं। 'सूफ़' का अर्थ है ऊन। ईसवीं सन् की आठवीं-नवीं शताब्दी में ऊन का व्यवहार करने वाले संसार-त्यागी साधकों का पता इस्लामी देशों में चलता है।........सफ़ा, अह्ल, सुफ्फाह, सफ्फे अव्वल, सोफिस्ता आदि से भी सूफ़ी शब्द के बनने की बात कही जाती है। लेकिन वे अधिकांश लोगों को मान्य नहीं है।'' जायसी ग्रंथावली में सूफ़ी मत का परिचय देते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है - "आरंभ में सूफ़ी एक प्रकार के फ़कीर या दरवेश थे, जो खुदा की राह पर अपना जीवन ले चलते थे, दीनता और नम्रता के साथ बड़ी फटी हालत में दिन बिताते थे। ऊन के कंबल लपेटे रहते थे। कुछ दिनों तक तो इस्लाम की साधारण धर्म-शिक्षा के पालन में विशेष त्याग और आग्रह के अतिरिक्त इनमें कोई नई बात या विलक्षणता नहीं दिखाई पड़ती थी। पर ज्यों-ज्यों ये साधना के मानसिक

पक्ष की ओर अधिक प्रवृत्त होते गए, त्यों-त्यों इस्लाम के बाह्य विधानों से उदासीन होते गए। फिर तो धीरे-धीरे अंत:करण की पवित्रता और हृदय के प्रेम को मुख्य कहने लगे और बाहरी बातों को आडंबर।''

सूफी शब्द की उपर्युक्त विविध व्युत्पत्तियों के आलोक में 'सूफ़ी' के निम्नलिखत लक्षण स्वीकार किए जा सकते हैं:

1. बाह्य आडंबरों के स्थान पर भीतरी तत्वों पर बल, जिसका प्रतिपादन वे मनसा, वाचा, कर्मणा करते हैं।

2. व्यक्तिगत साधनारत होते हुए भी लोक की अनदेखी नहीं।

3. परमात्मा के साथ-साथ प्राणीमात्र के प्रति उत्कट-अनुराग।

4. गहरा मानवीय मूल्य-बोध, जो संप्रदाय एवं साधना की सीमाओं में नहीं अटता। वैचारिक-उदारता उनके चरित्र का वैशिष्ट्य है।

5. प्रेम को जीवन के मूल-तत्व के रूप में पहचानना, पर ज्ञान के प्रति द्वंद्वात्मक भाव नहीं रखना।

7.3 सूफ़ी मत और सिद्धांत

सूफी मत की संपूर्ण साधना प्रेमाश्रित रही है। व्यक्ति साधना की उच्चभूमि में पहुँचने पर भी इनकी दृष्टि में लोकरक्षा और लोकरंजन के प्रति गहरा सरोकार बना रहा। परम्परा को स्वीकार करते हुए भी रूढ़ एवं जर्जर तत्वों की जकड़न को इन्होंने स्वीकार नहीं किया। अपने इन्हीं उदार एवं स्वच्छंद विचारों के कारण सूफी कट्टर मुसलमानों के लिए काफ़िर थे। सूफ़ियों के सिद्धांत एवं दर्शन किसी संप्रदाय विशेष या पूर्वाग्रह से निर्मित न होकर उनकी उदार मानवीय दृष्टि का ही प्रतिफलन थे। उनका मार्ग उदार प्रेममार्ग रहा :

"प्रेम पहार कठिन बिधि गढ़ा। सो पै चढ़े जो सिर सौं चढ़ा।
पंथ सूरि कर उठा अँकूरू। चोर चढ़ै की चढ़ मंसूरू।।''

सूफ़ीमत का भारत में आगमन कब हुआ, इस प्रश्न को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं दिखाई पड़ता। इस प्रश्न को इस रूप में भी उठाया जा सकता है कि भारत में इस्लाम धर्म कब आया? कहना न होगा कि प्रारंभिक सूफ़ी साधक जन्म से इस्लाम धर्म से संबद्ध थे, अत: ये साधक भारत में इस्लाम धर्म के आगमन के उपरांत ही आए होंगे। विद्वानों का मत है कि 1000 ई. के बाद ही सूफ़ी मत भारत में आया। कुछ विद्वान भारत में सूफ़ीमत का प्रवेश ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती से मानते हैं। परशुराम चतुर्वेदी का यह मानना है कि "भारत में सूफ़ीमत के प्रचार का आरंभ वास्तव में, उस समय से होता है जब विक्रम की 12वीं शताब्दी के प्रथम चरण में यहाँ के प्रसिद्ध सूफ़ी अल्-हुज्विरी का आगमन हुआ।'' आचार्य चतुर्वेदी के कथन पर ध्यान देने पर यह प्रतीत होता है कि अल्-हुज्विरी से पूर्व ही भारत में सूफ़ीमत का आगमन हो गया था। भारत में इस सूफ़ीमत के चार प्रमुख संप्रदाय हैं:

1. चिश्ती संप्रदाय (बारहवीं शताब्दी) - यह भारत में सर्वाधिक प्रसिद्ध संप्रदाय है। ख़्वाजा अबू इसहाक शामी चिश्ती या उनके शिष्य अबू अब्दाल चिश्ती का नाम इस संप्रदाय के प्रवर्तक के रूप में लिया जाता है। इस संप्रदाय के माध्यम से सूफ़ी मत का प्रचार भारत वर्ष में करने का श्रेय ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी को जाता है। चिश्ती-संप्रदाय में संगीत-तत्व को प्रधानता दी गई है।

2. सुहर्वर्दिया, सुहरवर्दी या सोहरावर्दी संप्रदाय (बारहवीं शताब्दी) - भारत में इस सूफ़ी संप्रदाय के प्रवर्तक बहाउद्दीन ज़कारिया कहे गए हैं। ठेठ इस्लाम-धर्म की स्वीकृत बातों के प्रतिकूल चलकर इस संप्रदाय के साधकों ने अपनी उदारतावादी दृष्टि का परिचय दिया।

3. कादरी या कादिरिया संप्रदाय (पंद्रहवीं शताब्दी)-इस संप्रदाय के प्रवर्तक अब्दुल कादिर अल-जीलानी थे। भारत में इसके प्रचारक सैयद मुहम्मद गौस 'वाला पीर' थे। इस संप्रदाय में संगीत का अधिक महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।

4. नक्सबंदी या नक्श बंदिया संप्रदाय (पंद्रहवीं शताब्दी) - इस संप्रदाय को ख्वाजा वहाउद्दीन 'नक्शबंद' ने आरंभ किया था। भारत में इसका प्रचार करने वाले ख्वाजा बाकी बिल्ला बेरंग रहे।

भारत में आकर उदार-धर्मी सूफी मत यहाँ के दार्शनिक मतों एवं उनके सिद्धांतों का प्रभाव ग्रहण कर निरंतर विकासमान रहा है। यही कारण है कि पैगम्बरी एकेश्वरवाद (शुद्ध एकेश्वरवाद) से आरंभ सूफी साधकों की यात्रा सर्वात्मवाद, एकतत्ववाद से होती हुई अद्वैतवाद तक पहुँचती है। सूफ़ी-साधकों की यह निरंतर विकासमान वैचारिक स्थिति जहाँ एक ओर उनके उदारमना होने का परिचय देती है वहीं दूसरी ओर स्थूल दृष्टि वाले पैगम्बरियों के लिए इनकी बातें कुफ़्र समझी गईं। कारण - **एकेश्वरवाद का मतलब यह है कि एक सर्वशक्तिमान सबसे बड़ा देवता है, जो सृष्टि की रचना, पालन और नाश करता है। अद्वैतवाद का मतलब है कि दृश्य जगत् की तह में उसका आधारस्वरूप एक ही अखंड नित्य-तत्व है और वही सत्य है। उससे स्वतंत्र और कोई अलग सत्ता नहीं है और आत्मा परमात्मा में भेद है।**

सूफ़ी, मज़हबी दस्तूर को अपनी व्यापक मानवीय दृष्टि के कारण नहीं स्वीकारते। वे विधि मार्ग विरोधी न थे। उन्हें कुरान के साथ-साथ वेद और पुराण भी लोककल्याण के मार्ग का प्रतिपादन करने वाले प्रतीत हुए :

राघव पूज जाखिनी, दुइज देखाएसि साँझ।
वेदपंथ जे नहिं चलहिं, ते भूलहि बन माँझ।
झूठ बोल थिर रहै न राँचा। पंडित सोइ वेदमत साँचा।

सूफ़ियों के अनुसार मानव, सृष्टि का चरमोत्कर्ष है और वही ईश्वर के स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति है। मानव का परमलक्ष्य उसकी पूर्णता की प्राप्ति होना चाहिए।

सूफ़ियों ने मनुष्य के चार **विभाग** स्वीकार किए हैं :

नफ़्स - अर्थात् विषयभोग वृत्ति या इंद्रिय या जड़ तत्व। मनुष्य के शरीर में समाहित यह तत्व उसका जड़ अंश बनाते हैं। अतः साधक का प्रथम लक्ष्य नफ्स के साथ युद्ध होना चाहिए। **रूह** - अर्थात आत्मा और कल्ब का **अर्थ है** - हृदय। कल्ब और रूह द्वारा ही साधक अपनी साधना करता है। कल्ब और रूह का भेद सूफ़ियों के यहाँ स्पष्ट नहीं। **अक्ल या बुद्धि** - यह मनुष्य का चौथा विभाग है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने मनुष्य के इन विभागों पर प्रकाश डालते हुए इनका महत्व उद्घाटित किया है -

''नफ्स अथवा जड़ आत्मा, उसे कार्य में बाधा पहुँचाता है और उसे पाप की ओर ले जाने की चेष्टा करता है, किंतु रूह अथवा अजड़ आत्मा की ईश्वरीय शक्ति उसके कल्ब अथवा हृदय के स्वच्छ दर्पण में परमेश्वर को प्रतिबिम्बित कर देती है और उसका अपने प्रियतम के साथ मिलन हो जाता है।''

सूफ़ी चार **जगत** मानते हैं - (1) **आलमे नासूत** - भौतिक जगत्, (2) **आलमे मलकूत** - चित्त जगत् या आत्म जगत् (3) **आलमे जबरूत** - आनंदमय जगत् जिसमें सुख-दुख आदि द्वंद्व नहीं और (4) **आलमे लाहत** - सत्य जगत् या ब्रह्म। कल्ब रूह (आत्मा) और रूपात्मक जगत् के बीच का एक साधन रूप पदार्थ है।

साधना के प्रारंभिक सात सोपानों - अनुताप, आत्म-संयम, वैराग्य, दारिद्र्य, धैर्य, ईश्वर-विश्वास तथा संतोष को पार कर साधक आगे के चतुर्विध सोपानों का अधिकारी हो जाता है।

सूफ़ी, 'साधक' की चार **अवस्थाएँ** कहते हैं - (1) **शरीअत** अर्थात धर्मग्रंथ के विधिनिषेध का सम्यक् पालन। इसे हमारे यहाँ के संदर्भ में कर्मकांड कहा जा सकता है। (2) **तरीकत** का अर्थ है बाहरी क्रिया-कलाप से परे होकर केवल हृदय की शुद्धता द्वारा भगवान का ध्यान। इसे उपासना कांड के रूप में समझा जा सकता है। (3) **हकीकत** से अभिप्राय भक्ति और उपासना के प्रभाव से सत्य के बोध से है। यह हमारे यहाँ का ज्ञानकांड हुआ। (4) **मारफ़त** अर्थात सिद्धावस्था, जिसमें कठिन उपवास और मौन आदि की साधना द्वारा साधक की आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है। जायसी ने अखरावट में कहा - **''वेद वचन मुख साँच जो कहा। सो जुग जुग अहथिर होइ रहा।''**

इतना ही नहीं सूफ़ियों ने भारतीय दर्शन - अद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि के मूल तत्व, शांतिपूर्ण एवं अहिंसामय वैष्णव धर्म एवं प्रेम को पूरे आदर के साथ ग्रहण किया। आ. रामचन्द्र शुक्त का इस संबंध में कथन है - **दृश्य जगत् के नाना रूपों को उसी अव्यक्त ब्रहम् के व्यक्त आभास मानकर सूफ़ी लोग भावनग्न हुआ करते हैं। यही कारण है कि निराकारोपासक सूफ़ी उपासना के व्यवहार के लिए ..... परमात्मा को अनंत सौंदर्य, अनंत शक्ति और अनंत गुणों का समुद्र मानकर चलते हैं।**

ईश्वर और जगत् के संबंध को लेकर सूफ़ियों के पाँच प्रकार के मत उपलब्ध होते हैं : (1) ईश्वर जगत् से परे रहकर उसमें लीन है। (2) ईश्वर और जगत समपरिणामरूप हैं। (3) जगत् की ईश्वर से पृथक् कोई सत्ता नहीं है, दोनों दो भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं। (4) ईश्वर और जगत् पृथक-पृथक वस्तुएँ हैं और ईश्वर जगत् से बाहर है। (5) ईश्वर न तो जगत में लीन है और न ही जगत से बाहर। वह एक ही साथ इसके भीतर एवं बाहर दोनों प्रकार से रहता है अथवा उसकी स्थिति इन दोनों के अतिरिक्त किसी मध्यवर्ती ढंग की है। पर अधिकांश सूफ़ी-साधक जगत् को ब्रह्म से अलग नहीं मानते :

> "जब चीन्हा तब और न कोई। तन, मन, जिउ, जीवन सब सोई।
> हौं हौं कहत धोख इतराहीं। जब भा सिद्ध कहाँ परछाहीं।'' (जायसी)

सृष्टि तत्व पर भी सूफ़ियों ने विचार किया है। इसके अंतर्गत सृष्टि के उद्देश्य एवं उसकी प्रक्रिया तथा सृष्टि के चरम-तत्व का उद्घाटन किया गया है। अधिकांश सूफ़ियों का यह अभिमत रहा है कि परमेश्वर ने सर्वप्रथम अपने नाम के आलोक से नूरुल मुहम्मदिया अर्थात् मुहम्मदीय आलोक की सृष्टि की और वही आदिभूत बना। फिर नूर संबंधी उपादान कारण से पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि नाम से चार तत्वों की सृष्टि हुई आगे चलकर इन्हीं से ब्राह्मण का प्रादुर्भाव हुआ।

उन्होंने साधक की इन अवस्थाओं का उल्लेख किया है :

> कही 'सरीअत' चिस्ती पीरू। उधरित असरफ़ औ जहँगीरू।
> राह 'हकीकत' परै न चूकी। पैठि 'मारफ़त' मार बुड़ूकी।।

इन अवस्थाओं पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सूफ़ी साधकों का मूल लक्ष्य-प्रेम है। इसकी प्राप्ति के लिए ही वे नाना मतों, सिद्धांतों एवं अवस्थाओं का आश्रय लेते हैं। आ. शुक्त का कहना है "अत: मूर्तामूर्त सबको उस ब्रह्म का व्यक्ताव्यक्त रूप मानने वाले सूफ़ी यदि उस ब्रह्म की भावना अनंत सौंदर्य और अनंत गुणों से संपन्न प्रियतम के रूप में करें तो उनके सिद्धांत में कोई विरोध नहीं आ सकता......... सूफ़ी लोग ब्रह्मानंद का वर्णन लौकिक प्रेमानंद के रूप में करते हैं।''

7.4 प्रेमाख्यान का स्वरूप

सूफ़ी काव्य अपनी अंतवर्ती विशेषताओं के कारण प्रेमाश्रयी, प्रेममार्गी, प्रेम-काव्य, प्रेमाख्यानक तथा कथा काव्य के नाम से जाना जाता है। इससे स्पष्ट है कि इस काव्यधारा की मूल चेतना प्रेम रही है। यहाँ प्रेमाख्यानक तथा कथा-काव्य को छोड़ अन्य नामों का अर्थ स्पष्ट है, अत: सूफ़ी काव्य के संदर्भ में इन दो नामों पर विचार अपेक्षित है। यहाँ उल्लेखनीय है कि प्रेमाख्यान का आख्यान तथा कथा-काव्य का कथा शब्द पर्याप्त रूप में प्रयुक्त हुए हैं। हिंदी साहित्य में यह शब्द प्राय: प्राचीन कथानक या वृत्तान्त के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसके अन्य पर्याय रहे हैं - कथा, कथानक, आख्यायिका वृत्तान्त आदि। अपने व्यापक अर्थ में यह कहानी कथा के पर्याय हैं और इसका सीमित अर्थ है : ऐतिहासिक कथानक, पूर्ववृत्त कथन। (हिन्दी साहित्यकोश) जहाँ तक प्रेमाख्यानों के अर्थ एवं स्वरूप का प्रश्न है उसके संबंध में रामपूजन तिवारी जी के शब्दों में कहा जा सकता है कि "लोकप्रचलित कथाएँ ही इन काव्यों का आधार रही हैं। इन कहानियों के नायक ऐतिहासिक पुरुष भी हो सकते थे। वैसे इन कहानियों में ऐतिहासिकता होना जरूरी नहीं था। कल्पना का सहारा लेकर उन प्रेमकहानियों को मांसल बनाया जाता था।.........इन प्रेम कहानियों में प्रेमी और प्रेमिका के उत्कट प्रेम, उनके मिलन के मार्ग की बाधाएँ, मिलन का वर्णन बड़े रोचक ढंग से होता है।''

भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यान की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। ऋग्वेद एवं महाभारत के अनेक आख्यान इस परंपरा के आदि-स्रोत कहे जा सकते हैं। हिंदी साहित्य के मध्यकाल में इस परंपरा ने बल पकड़ा। मध्यकाल में यह परंपरा तीन रूपों में दृष्टिगत होती है।

1. विषय और भाषा के स्तर पर पुरानी परंपरा से चले आते प्रेमाख्यान, जिनमें ऐहिक तत्वों पर अधिक बल दिया गया है।

2. सूफ़ी साधकों द्वारा रचित प्रेमाख्यान।

3. दक्षिणी हिंदी में रचित लौकिक एवं पारलौकिक प्रेम समन्वित आख्यान।

सूफ़ी साधकों द्वारा रचित प्रेमाख्यानों पर भारतीय आख्यान परंपरा के साथ-साथ फ़ारसी की मसनवी शैली का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है। यह प्रभाव विषय-वस्तु एवं शिल्प दोनों स्तरों पर दिखाई देता है। इनमें भारतीय लोककथाओं एवं भारतीय काव्य की कथानक रूढ़ियों को आधार रूप में ग्रहण किया गया है। फ़ारसी की मसनवी शैली के संयोग से इन प्रेमाख्यानकों में अभिव्यक्त प्रेम का स्वरूप परम्परागत काव्य से भिन्न एवं विशिष्ट हो गया है।

7.5 सूफ़ी काव्य की मूल प्रेरणा

यह तो आप जानते हैं कि भारत में सूफ़ी संप्रदाय का आगमन एवं विकास मुस्लिम, साधकों द्वारा ही हुआ। इसी को लक्ष्य करके **आचार्य रामचंद्र शुक्ल** ने यह कहा कि इस शैली की प्रमुख कहानियाँ मुसलमानों के ही द्वारा लिखी गईं। इन भावुक और उदार मुसलमानों ने इनके द्वारा मानो हिंदू जीवन के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की। यदि मुसलमान हिंदी और हिंदू साहित्य से दूर न भागते, इनके अध्ययन का क्रम जारी रखते, तो उनमें हिंदुओं के प्रति सद्‌भाव की वह कमी न रह जाती जो कभी-कभी दिखाई पड़ती है।

मुसलमान होने के बावजूद सूफ़ी कवियों की दृष्टि मानवतावादी उदार दृष्टि थी। वे मानुष सत्य का उद्‌घाटन करना चाहते थे। इस सत्य की अभिव्यक्ति में जो दर्शन उनका सहायक हो सकता था, उसे सूफ़ी प्रेमाख्यानकारों ने बड़े आदर भाव से ग्रहण किया। **डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी** ने जायसी की कविता पर विचार करते हुए लिखा है - ''जायसी के संदर्भ में यह बात फिर उभर कर आती है कि कविता मात्र सांप्रदायिक नहीं होती। मुसलमान होकर हिंदू शौर्य की गाथा - दिल्ली के सुल्तान के विरुद्ध - एक नाजुक प्रसंग है। पर जायसी 'पद्‌मावत' के चित्रण में एकदम खरे उतरते हैं। यहाँ दोनों पक्षों का पूरे आदर और आत्मीयता से उल्लेख हुआ है - 'हिंदू तुरक दुवौ रन गाजे' और अगर आत्मीयता कहीं कुछ अधिक है तो चित्तौड़ के साथ, न कि दिल्ली के।''

स्पष्ट है कि सूफ़ी साधकों की मूल दृष्टि संप्रदाय-सापेक्ष न होकर मूल्य-सापेक्ष रही। ये मूल्य समय सापेक्ष होने के साथ साथ सार्वभौम भी थे। इसी कारण सूफ़ी कविता अपने प्रभाव में कालजयी कविता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने समय संदर्भ में इस कविता के महत्व को रेखांकित करते हुए कहा है - ''मनुष्यता के सामान्य भावों के प्रवाह में मग्न होने और मग्न करने का समय आ गया था।..........ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान 'प्रेम की पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्यक्षेत्र में उतरे। ये कहानियाँ हिंदुओं के घर की थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने दिखला दिया कि एक गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता था।''

7.6 सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य-परंपरा

मनुष्यता के सामान्य-स्वरूप को लेकर अग्रसर होने वाली सूफ़ी काव्य परंपरा अत्यंत समृद्ध रही है। मलिक मुहम्मद 'जायसी' का पद्‌मावत इसी परम्परा का उत्कृष्ट ग्रंथ है। जायसी के इस ग्रंथ में सूफ़ी काव्य परंपरा की सभी विशेषताएँ एक साथ दिखाई पड़ती हैं। इस ग्रंथ की उत्कृष्टता एवं विषय तथा शैली इस बात की

ओर संकेत करते हैं कि जायसी से पूर्व ही यह परंपरा प्रारंभ हो गई थी। जायसी में इस परंपरा का चरम रूप दिखाई पड़ता है। जायसी के पश्चात् भी सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य की यह परंपरा निरंतर प्रवहमान रही। इस काव्य परंपरा के सिरमौर कवि जायसी को आधार बनाकर प्रेमाख्यानक काव्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है :

(i) जायसी पूर्व प्रेमाख्यानक काव्य
(ii) जायसी उत्तर प्रेमाख्यानक काव्य

(i) जायसी पूर्व प्रेमाख्यानक काव्य : जायसी के पूर्व प्रेमाख्यानक काव्यों की पुष्टि जायसी का पद्मावत कर देता है। जिसमें कवि ने स्पष्ट रूप से अपनी पूर्ववर्ती परंपरा का उल्लेख किया है -

"विक्रम धँसा प्रेम के बारा। **सपनावति** कहँ गएउ पतारा।।
मधूपाछ **मुगुधावति** लागी। गगनपूर होइगा बैरागी।।
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। **मिरगावति** कहँ जोगी भयऊ।।
साधु कुँवर खंडरावत जोगू। **मधुमालति** कर कीन्ह वियोगू।।
प्रेमावति कहँ सुरसरि साधा। **ऊषा लगि अनिरुध** वर बाँधा।।"

इस सूची में गिनायी गई प्रेमाख्यानक रचनाओं में केवल मृगावती और मधुमालती ही प्राप्त हो सकी हैं। जायसी के इस छंद में कुछ नाम छूट गए हैं। इस परंपरा में मुल्ला दाऊद की **चंदायन** या नूरकंचदा, दामो कवि की **लक्ष्मण सेन पद्मावती,** शेख रिजकुल्ला मुश्ताकी की रचना **प्रेमवनजोब निरंजन,** नारायणदास (रतनरंग) की **छिताईवार्ता** ईश्वरदास विरचित **सत्यवती कथा** महत्वपूर्ण हैं।

(ii) जायसी के उत्तरवर्ती प्रेमाख्यानक काव्य : जायसी के बाद भी प्रेमगाथाओं की यह परंपरा गतिमान रही। इस परंपरा को आगे बढ़ाने वाले कवि, उनकी रचनाएँ तथा उनका रचनाकाल इस प्रकार कहा गया है :

रचयिता	रचना	रचनाकाल
मंझन	मधुमालती	संवत् 1602
उसमान	चित्रावली	संवत् 1670
शेखनवी	ज्ञानद्वीप	संवत् 1676
न्यामत खाँ 'जान'	कनकावति	संवत् 1675
	कामलता	संवत् 1678
	मधुकर मालति	संवत् 1691
	कथा रत्नावति	संवत् 1691
	छीता	संवत् 1693
कासिमशाह	हंसजवाहिर	संवत् 1793
नूर मुहम्मद	इंद्रावति	संवत् 1801
	अनुराग बाँसुरी	संवत् 1821
निसार	यूसुफ़ जुलेखा	संवत् 1847
ख्वाज़ा अहमद	नूरजहाँ	संवत् 1962
शेख रहीम	प्रेमरस	संवत् 1972
कवि नसीर	प्रेमदर्पण	संवत् 1974

सूफी काव्य परंपरा का उद्घाटन करने के उपरांत अब हम इस परंपरा के महत्वपूर्ण कवियों एवं उनकी रचनाओं पर संक्षेप में विचार करेंगे, जिससे परंपरा को समग्र रूप से ग्रहण करने में सुविधा हो।

1 **मुल्ला दाऊद** – मुल्ला दाऊद या मौलाना दाऊद की रचना 'चंदायन' से सूफी प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा का आरंभ माना जाता है। यह लोर या लोरिक तथा चन्दा की प्रेमकथा है। विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें भारतीय प्रेमाख्यानों की विभिन्न प्रवृत्तियों का निरूपण हुआ है। इसमें भी सूफी रचनाओं के समान लोक प्रचलित विश्वासों के साथ-साथ परमतत्व से प्रेम की व्यंजना की गई है। चंदायन के छंद से एक दोहा उद्घृत है :

"पियर पात जस बन जर, रहेउँ काँप कुँभलाई।
विरह पवन जो डोलेउ, टूट परेउँ घहराई।।"

2. **कुतुबन** : चौपाई-दोहे के क्रम में कुतुबन ने 'मृगावती' की रचना 909 हिजरी (संवत् 1558) में की। इसमें चंद्रनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेमकथा का वर्णन है। इस कहानी के माध्यम से कवि ने प्रेममार्गी के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत्प्रेम का स्वरूप दिखाया है। बीच-बीच में सूफियों की शैली पर बड़े सुंदर रहस्यमय आध्यात्मिक आभास हैं। ग्रंथ की परिणति शांत रस में दिखाई गई है :

रुकमिनि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंति सत सों सति भई।।
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई।।
बिधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू।।

3. **मंझन** : मंझन की रचना का नाम 'मधुमालती' (संवत् 1545) है। मधुमालती नाम की अन्य रचनाओं का भी पता चलता है। लेकिन मंझन कृत मधुमालती जायसी के पद्मावत के पाँच वर्ष बाद रची गई। जायसी ने अपने पूर्ववर्ती सूफी प्रेमाख्यानक ग्रंथों का उल्लेख करते हुए जिस मधुमालती का नाम लिया है, वह मंझन की रची हुई नहीं है। इस ग्रंथ में कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र राजकुमार मनोहर का महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती के साथ प्रेम और पारस्परिक वियोग की कथा है। इस रचना में विरह-कथा के साथ आध्यात्मिक तथ्यों का निरूपण सुंदर ढंग से किया गया है।

4. **मलिक मुहम्मद 'जायसी'** : जायसी सूफी साधकों एवं कवियों के सिरमौर हैं। प्रेममार्गी कवियों के इस प्रतिनिधि कवि की रचना-पद्मावत सन् 927 हिजरी (सन् 1520 ई.) में मानी गयी है -

"सन् नौ सै सत्ताइस अहा। कथा आरंभ बैन कवि कहा।"

आ. शुक्ल ने इस कृति के संबंध में लिखा – "जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है 'पद्मावत', जिसके पढ़ने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था। क्या लोकपक्ष में, क्या अध्यात्म पक्ष में दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता विलक्षण दिखाई देती है।" इस कृति में राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप की पद्मावती के प्रेम का वर्णन किया गया है। प्रेमगाथा परंपरा की इस प्रौढ़ कृति में इतिहास और कल्पना का सुंदर समन्वय देखते ही बनता है।

5. **उसमान** : उसमान कवि की 'चित्रावली' सन् 1613 ई. में लिखी गई थी। इसका कथानक कल्पनाश्रित है। इसमें नेपाल के राजकुमार सुजान के चित्रावली के साथ विवाह का वर्णन अत्यंत सरस रूप में हुआ है। रचनाकार अपने रचनाविधान में जायसी से प्रभावित रहा है। इसमें सूफी और सूफी प्रेमाख्यानक इतर काव्य की परंपराओं और काव्य-रूढ़ियों का सुंदर प्रयोग हुआ है।

7.7 भाव व्यंजना तथा रस निरूपण

साहित्य की प्रत्येक विधा अपने समय और रचनाकार की आपसी टकराहट से विषय-वस्तु ग्रहण करती है। सूफ़ी कविता फिर इसका अपवाद कैसे हो सकती है? सूफ़ी कवियों के आख्यानों में उनकी रचना-दृष्टि और समय की आवश्यकता दोनों मौजूद हैं। इसका परिणाम यह है कि उस युग का जीवन प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं में अपने वैविध्य के साथ चित्रित है। रति, शोक, उत्साह, भय, वीभत्स, हास, ईर्ष्या, उत्सुकता, सहानुभूति, विवशता आदि जीवन के प्रमुख भाव, प्रेमाख्यानों में संदर्भ-सापेक्ष होने के कारण जीवंत बन पड़े हैं। पर इस सबंध में मतभेद नहीं हो सकता कि इस कविता का बीज भाव-ऐहिक एवं पारलौकिक प्रेम है। प्रेम की शक्ति जीवन के तमाम भावों में सर्वोपरि है। सूफ़ी कविता का प्रेम-तत्व भी अन्य भावों को ढक लेता है-

> "प्रीति बेलि जिन अरुझै कोई। अरुझै, मुए न छूटै सोई।
> प्रीति बेलि ऐसै तन डाढ़ा। पलुहत सुख, बाढ़त दुख बाढ़ा।।
> प्रीति अकेलि बेलि चढ़ि आवा। दूसर बेलि न सँचरै पावा।''

इस काव्य-धारा का अपर नाम प्रेमाश्रयी' या प्रेमाख्यानक' काव्य-परंपरा इस काव्यधारा की मूल विषय-वस्तु प्रेम' की ओर संकेत करता है। काव्यशास्त्र की शब्दावली में इसे श्रृंगार कहा जा सकता है। इनका प्रणय भाव इनकी साधना पद्धति के परिप्रेक्ष्य में ही अभिव्यक्ति पाता है। लोक जीवन की प्रेमकथा को आधार बनाकर ये इश्क हक़ीक़ी के सिद्धांत का ही प्रतिपादन करना चाहते थे। ईश्वर, जगत्, ईश्वर और जगत् के पारस्परिक संबंध, मनुष्य तथा साधना की विविध अवस्थाओं के निरूपण द्वारा ये अपने चरम लक्ष्य - ईश्वर प्रेम के विविध सोपानों को ही उजागर करते हैं। प्रेम के संयोग पक्ष की अपेक्षा वियोग पक्ष की प्रधानता इनके यहाँ दिखाई पड़ती है। इस माध्यम से यह ईश्वर से मिलन-संयोग के विविध सोपानों के वर्णन का मार्ग निकाल लेते हैं। वास्तव में सूफ़ी रचनाकारों की प्रणय भावना साहस संघर्ष की भावना से परिचालित रही है। इनके यहाँ न सामाजिक रूढ़ियों का बंधन स्वीकार्य है न शास्त्र का अनावश्यक हस्तक्षेप।

सूफ़ी कवियों ने नायिका को अलौकिक शक्ति का प्रतीक मानकर उसमें अनुपम सौंदर्य का विधान किया है। सौंदर्य निरूपण में इन्होंने शरीर और मन दोनों के सौंदर्य का चित्रण किया है। नख-शिख, रूप-रंग, हाव-भाव के वर्णन के साथ कला-विशारदता, विदग्धता आदि का भी समावेश किया है। सूफ़ी प्रेमाख्यानों के नायक अनेक बाधाओं को झेलकर भी निरंतर लक्ष्य की ओर बढ़ते चलते हैं। इस प्रणय भावना के स्वरूप को उद्घाटित करते हुए डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ने लिखा है - "इन आख्यानों के नायकों की प्रणय-भावना, साहस, संघर्ष, शौर्य, आत्मत्याग आदि से युक्त होकर एक ऐसा रूप प्राप्त कर लेती है जिसमें वासना, स्वार्थ, अहंकार का लोप हो जाता है।''

विरह-दशा की प्रधानता के माध्यम से ये जीवन के क्षुद्र-स्वार्थों से उत्पन्न खाई को पाटना चाहते थे। जायसी के यहाँ रानी नागमती का तमाम अहंकार वियोग के दौरान खंड-खंड हो जाता है और कोमल मानवीय भावनाएँ अपने वास्तविक रूप में प्रकट होती दिखाई पड़ती हैं।

सूफ़ी कवियों की इस भाव-निरूपण प्रकृति का अवलोकन करने पर कहा जा सकता है कि इनकी रचनाएँ 'कथारूपक' श्रेणी में आती है। सांसारिक व्यक्तियों की प्रेम चर्चा द्वारा इश्क हक़ीक़ी के सिद्धांत का प्रतिपादन करना इनका लक्ष्य रहा है। इनमें प्रेम-मार्ग की बाधाओं के निरूपण के माध्यम से साधक के साधना-मार्ग की ओर संकेत किया गया है। सूफ़ियों के यहाँ सौंदर्य को प्रेम के उद्रेक का मूल कारण बताया गया है। प्रेमारंभ का मूल कारण, नायिका का अनुपम रूप-सौंदर्य - 'खुदा के नूर' की ओर संकेत करता है। प्रेम के इस विशिष्ट प्रेम-स्वरूप के माध्यम से इन्होंने लौकिक के साथ लोकोत्तर, अलौकिक प्रेम की व्यंजना की है। पद्मावती और नागमती के विवाद में जो 'असूया' का भाव प्रकट होता है, वह स्त्री-भाव चित्रण की दृष्टि से चित्रित है। वह प्रेम के लौकिक स्वरूप के अंतर्गत है।

7.7.1 प्रेम-पद्धति

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने दाम्पत्य-प्रेम की चार पद्धतियाँ कही हैं - (क) पहले प्रकार का प्रेम आदिकाव्य रामायण में दिखाया गया है। इसका विकास विवाह संबंध हो जाने के बाद और पूर्ण उत्कर्ष, जीवन की

विकट स्थितियों में दिखाई पड़ता है। (ख) दूसरे प्रकार का प्रेम विवाह के पूर्व का होता है, विवाह जिसका फल होता है। इसमें नायक-नायिका संसार क्षेत्र में घूमते फिरते हुए कहीं - जैसे उपवन, नदीतट, वीथी इत्यादि में - एक दूसरे को देख मोहित होते हैं और दोनों में प्रीति हो जाती है। (ग) तीसरे प्रकार के प्रेम का उदय प्राय: राजाओं के अंत:पुर, उद्यान आदि के भीतर भोगविलास या रंग रहस्य के रूप में दिखाया जाता है जिसमें सपत्नियों के द्वेष, विदूषक आदि के हास, परिहास और राजाओं की स्त्रैणता का दृश्य होता है। (घ) चौथे प्रकार का वह प्रेम है जो गुण, श्रवण, चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन आदि से बैठे बिठाए उत्पन्न होता है और नायक या नायिका को संयोग के लिए प्रयत्नवान करता है। सूफियों के यहाँ प्रेम-पद्धति का चौथा रूप दिखाई देता है। फ़ारसी की प्रेम पद्धति से प्रभावित सूफी कवियों का यह प्रेम अभिनव रूप में दिखाई देता है। सूफी प्रेमाख्यानकारों ने भारतीय और विदेशी प्रेम पद्धतियों को मिलाकर प्रेम का आदर्श रूप स्थापित किया है। फ़ारस के प्रेम में नायक के प्रेम का वेग अधिक तीव्र दिखाई पड़ता है और भारत के प्रेम में नायिका के प्रेम का। जायसी ने आगे चलकर नायक और नायिका दोनों के प्रेम की तीव्रता समान करके दोनों आदर्शों का एक में मेल कर दिया है। इतना ही नहीं फ़ारसी की मसनवियों के ऐकांतिक, लोकबाह्य और आदर्शात्मक प्रेम को इन्होंने भारतीय प्रेम पद्धति के लोकसंबद्ध और व्यवहारात्मक रूप से संबद्ध किया। इनका प्रेम काम, सौंदर्य और प्रणय की भावना से युक्त रहा। प्रेम की परिणति भाव रूप में दिखाई गई है। रूप-लोभी अलाउद्दीन की समझ में यह बात अन्तत: आ ही जाती है कि :

"मानुष पेम भएउ बैकुंठी।
नाहिं तो व्याह छार इक मूठी।।"

7.7.2 चरित्र-चित्रण

सूफी प्रेमाख्यानों में उपलब्ध पात्रों को उनकी प्रकृति के आधार पर विविध भागों में बाँटा जा सकता है:

(1) मानवीय पात्र तथा अमानवीय पात्र

(2) मुख्य पात्र, गौण पात्र तथा अनावश्यक पात्र।

(3) ऐतिहासिक पात्र तथा काल्पनिक पात्र।

मानवीय श्रेणी के पात्रों में राजकुमार, राजकुमारी तथा उनसे संबंधित अन्य पात्र आते हैं। मानवीय चरित्र की तमाम विशेषताओं से यह पात्र युक्त दिखाई पड़ते हैं। नागमती और पद्मावती के विवाद में स्त्री सुलभ असूया भाव का, नागमती के विरह में भारत की मध्यकालीन नारी और उसके भावों का प्रकाशन हुआ है। प्रेमाख्यानों में कथारूपक के निर्वाह के लिए नायक को नायिका की अपेक्षा अधिक अधीर दिखाया गया है। पं. परशुराम चतुर्वेदी ने सूफी कवियों के प्रबंधों में चरित्र-चित्रण के विषय में लिखा है - "सूफी-प्रेम गाथा के कवियों को जब अपनी कथा-वस्तु के घटना-प्रवाह में डालकर किसी पात्र को अंत तक निबाह ले जाने की आवश्यकता पड़ती है, तब उन्हें केवल इसी बात की चिंता नहीं रहा करती कि उनका स्वरूप किसी परिस्थिति-विशेष के अनुकूल गढ़ता जा रहा है या नहीं। उन्हें इस बात को देखते रहने के लिए भी जागरूक बनना पड़ता है कि वह अंत में जाकर हमारे आदर्शों के अनुरूप ही उतर सकेगा।"

परिवेश की संदर्भ-सापेक्षता का बोध सूफी कवियों को था यही कारण है उनके मानवीय-चरित्र भारतीय परिवेश की उपज प्रतीत होते हैं। फ़ारसी प्रेमाख्यानों से भारतीय प्रेमाख्यानों के चरित्र की भिन्नता एवं विशिष्टता को लक्ष्य करते हुए कहा गया है कि फ़ारसी प्रेमाख्यानों में प्राय: नायक एकपत्नीव्रतधारी तथा नायिका प्रेमी के अनन्तर पति को स्वीकार करने वाली दिखाई जाती है। हिंदी प्रेमाख्यानों में नायक के प्रतिद्वंद्वी के रूप में प्रतिनायक का अस्तित्व प्राय: नहीं है - नायक का विरोध प्राय: नायिका के पिता या संरक्षक के द्वारा ही होता है, अत: फ़ारसी-मसनवियों की भाँति इनमें प्रेम का त्रिकोण उपस्थित नहीं होता।

मानवेतर प्राणियों के वर्ग में असुर, राक्षस, बैताल, हंस, तोता, अप्सराएँ, परियाँ आदि आते हैं। ये पात्र स्थिति विशेष को आगे बढ़ाने में सहायक की भूमिका निभाते हैं। ये पात्र एक तरह की प्रतीकात्मक भूमिका लिए रहते हैं। असुर या राक्षस क्रूर, तोता तथा हंस विद्वान और अप्सरा या परी सहृदय रूप में चित्रित हुए हैं।

मुख्य पात्र ऐतिहासिक एवं काल्पनिक दोनों प्रकार के रहे हैं। नायक-नायिकादि यदि ऐतिहासिक पात्र हैं तो कतिपय काल्पनिक पात्रों की योजना भी कथा-विधान के अंतर्गत की गई है। काल्पनिक पात्रों के अंतर्गत देव, परी, परेवा आदि गौण पात्र के रूप में आते हैं। जायसी के पद्मावत का हीरामन तोता ऐतिहासिक पात्र नहीं पर कथा-प्रसंग में उसकी भूमिका महत्वपूर्ण रही है। वह **गुरू सूआ जेई पंथ देखावा** की भूमिका में आकर पूरे कथा-विधान के संचालक की भूमिका का ग्रहण कर लेता है।

सूफ़ी प्रेमगाथाओं में लोक और शिष्ट, कल्पना और इतिहास का सुंदर समन्वय दिखाई पड़ता है "सूफ़ी प्रेम-गाथा के कवियों को जहाँ ऐतिहासिक घटनाओं का आधार लेना पड़ा है, इसके लिए उन्होंने भरसक ऐतिहासिक पात्रों की ही अवतारणा की है, वहाँ परिस्थिति-विशेष को सँभालने के लिए उन्हें कुछ काल्पनिक पात्रों की भी सृष्टि करनी पड़ी है, जिन्हें उन्होंने प्रसंगानुसार उपस्थित कर अपनी कहानी में खपा दिया है।'' (सूफ़ी काव्य-संग्रह - पं. परशुराम चतुर्वेदी)।

पद्मावत में कल्पना और इतिहास की स्थिति और उससे निर्मित पात्रों की स्थिति को उद्घाटित करते हुए डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है - "जायसी ने अपने कथानक का विधान इस तरह किया है कि पूर्वार्द्ध लोक-कथा के रूप में काल्पनिक वृत्त है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक बनावट लिए हुए है। ये दो अलग-अलग संसार हैं और इनकी विश्वसनीयता की अलग-अलग शर्तें हैं। लोक कथा की रंगत लिए पूर्वार्द्ध में अनेक अतिप्राकृत चरित्र और घटनाएँ हैं - देवी, देवता, राक्षस, मनुष्य की बोली बोलने वाला तोता, सिद्धि गुटिका आदि। उत्तरार्द्ध में ये अतिप्राकृत तत्व एकदम अनुपस्थित हैं, उनका कहीं कोई उल्लेख नहीं होता।'' स्पष्ट है कि चरित्र चाहे वे किसी भी प्रकृति के रहे हों, संदर्भ की माँग के अनुरूप हैं। सूफ़ी कावियों के पात्रों के चरित्र-चित्रण का अवलोकन करने के उपरान्त कहा जा सकता है कि यहाँ पात्र कथा-रूपक निर्वाह के अनुरोध से स्वरूप ग्रहण करते हैं। वे स्वतंत्र रूप में गतिशील न होकर प्रायः स्थिर और रूढ़िबद्ध रूप में ही कथानक के अनुरूप प्रायः पूर्वनियत भूमिकाओं का निर्वाह करते दिखाई पड़ते हैं।

7.8 सूफ़ी रहस्यवाद

ज्ञान के क्षेत्र का अद्वैतवाद, भावना के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद कहलाता है। रहस्यवाद अपनी प्रकृति से दो प्रकार का होता है - (1) साधनात्मक रहस्यवाद, (2) भावनात्मक रहस्यवाद।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "हमारे यहाँ का योगमार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है। यह अनेक अप्राकृतिक और जटिल अभ्यासों द्वारा मन को अव्यक्त तथ्यों का साक्षात्कार कराने तथा साधक को अनेक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कराने की आशा देता है। तंत्र और रसायन भी साधनात्मक रहस्यवाद हैं, पर निम्न कोटि के। भावनात्मक रहस्यवाद की भी कई श्रेणियाँ है, जैसे भूत-प्रेम की सत्ता मानकर चलने वाली भावना स्थूल रहस्यवाद के अंतर्गत होगी। अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलने वाली भावना से सूक्ष्म और उच्च कोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है।''

भारतीय भक्ति का सामान्य स्वरूप रहस्यमय नहीं। यही कारण है कि यहाँ भक्ति के क्षेत्र में रहस्यधर्मी माधुर्य भाव का अधिक प्रचार नहीं हुआ। पर सूफ़ियों के यहाँ रहस्यात्मक माधुर्य भाव व्यापक स्तर पर दिखाई पड़ता है। इन्हीं के प्रभाव से सगुण भक्तिधारा की कृष्णाश्रयी शाखा में इस भाव को स्वीकृति मिली। सूफ़ियों के इस रहस्यात्मक भक्ति मार्ग की कतिपय रूढ़ियाँ रही हैं, सूफ़ी प्रेमाख्यानक परंपरा में इन रूढ़ियों का विस्तार दिखाई पड़ता है। हाल की दशा में आकर मूर्च्छित होना, मद, प्याला, उन्माद तथा प्रियतम ईश्वर के विरह की दूरारूढ़ व्यंजना भी सूफ़ियों की बँधी हुई परंपरा है। सूफ़ियों के इस रहस्यवाद ने निर्गुण संतों को भी व्यापक स्तर पर प्रभावित किया।

जिस प्रकार सूफ़ियों के प्रभाव से भारतीय भक्ति साहित्य के रचनाकार प्रभावित हुए थे, उसी प्रकार सूफ़ी भी यहाँ के साधनात्मक-रहस्यवाद से प्रभावित हुए। आचार्य शुक्ल ने इस प्रभाव को रेखांकित करते हुए लिखा भी है कि "जिस समय सूफ़ी यहाँ आए उस समय उन्हें रहस्य की प्रवृत्ति, हठयोगियों, रसायनियों और तांत्रिकों में ही दिखाई पड़ी। हठयोग की तो अधिकांश बातों का समावेश उन्होंने अपने साधना-पद्धति में कर लिया।''

इस प्रकार रहस्यवाद सूफ़ियों के यहाँ अपने संपूर्ण रूप में दिखाई देता है। इस क्षेत्र में सूफी कवियों के प्रदेय को विशेषत: जायसी के प्रदेय को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्वीकार किया है – "हिंदी कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुंदर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही ऊँची कोटि की है। वे सूफ़ियों की भक्ति भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत् के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरूष' के समागम के हेतु प्रकृति के श्रृंगार, उत्कंठा या विरह विकलता के रूप में अनुभव करते हैं।''

(जायसी ग्रंथावली)

7.9 काव्य रूप तथा कथानक रूढ़ियाँ

काव्य के दो प्रधान रूपों में से सूफी प्रेमाख्यानों की रचना प्रबंध रूप में की गई है। प्रबंध काव्य के किस रूप के अंतर्गत इन्हें रखा जाए, यह समस्या आलोचकों के सामने आती है। इन्हें कभी फ़ारसी प्रबंध (मसनवियों) के अंतर्गत रखा गया है तो कभी भारतीय कथा-काव्य की परंपरा में। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनका सबंध फ़ारसी की मसनवियों से माना है। उनका अभिमत है – "इन प्रेमगाथाओं में पहली बात ध्यान देने की यह है कि इनकी रचना भारतीय चरितकाव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न होकर फ़ारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है, जिसमें कथा, सर्गों या अध्यायों में विस्तार के हिसाब से विभक्त नहीं होती, बराबर चली चलती है, केवल स्थान-स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षक के रूप में रहता है। मसनवी के लिए साहित्यिक नियम तो केवल इतना ही समझा जाता है कि सारा काव्य एक ही मसनवी छंद में हो पर परंपरा के अनुसार उसमें कथारंभ के पहले ईश्वरस्तुति, पैगंबर की वंदना और उस समय के राजा (शाहे वक्त) की प्रशंसा होनी चाहिए। ये बातें पद्मावत, इंद्रावत, मृगावती इत्यादि सबमें पाई जाती हैं।''

यहाँ उल्लेखनीय है कि भाषाशैली और संस्कृति का आपसी संबंध बड़ा गहरा होता है। उदार सूफ़ी साधक लोक जीवन की कथा को आधार बनाकर अपने मूल विषय – मानवीय प्रेम – को प्रतिपादित करना चाहते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने हिंदू घरानों की कहानियों को फ़ारसी की काव्य शैली में ढाला। सूफ़ी साधकों की उदार-दृष्टि काव्य-रूप के चयन में भी इसी उद्देश्य से परिचालित होती जान पड़ती है। सिद्धांत, मत, कथानक रूढ़ियों के संदर्भ में उन्होंने भारतीय – अभारतीय तत्वों की जो मिलावट की है, वह प्रयोजन-सापेक्ष थी।

आचार्य शुक्ल का उपर्युक्त कथन सूफ़ी प्रेमाख्यानों की विस्तृत परंपरा पर समान रूप से लागू नहीं होता – "कुछ रचनाओं के स्तुति-खंड में ही इस प्रभाव को स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा मसनवी काव्य के अन्य लक्षण जैसे पूरे काव्य का एक ही छंद में लिखा जाना, कथा का सर्गों या खंडों में विभक्त न होना आदि इन प्रेमाख्यानों में नहीं मिलते, अत: इन्हें काव्य-रूप की दृष्टि से 'मसनवी' कहना कठिन है।'' (हिंदी साहित्य का इतिहास (सं.) डॉ. नगेन्द्र) आचार्य शुक्ल जिस शैली को मसनवी कहते हैं, उस शैली के विषय में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह अभिमत है "इस शैली के पीछे देसी लोक-गाथाओं का संस्कार भी देखा जा सकता है, जिनमें शास्त्रीय दृष्टि का कोई विभाजन नहीं, कथा लगातार चलती है।''

अब प्रश्न उठता है कि यदि सूफ़ी प्रेमाख्यान मसनवी नहीं है, तो क्या है? मसनवी के अतिरिक्त सूफ़ी प्रेमाख्यानों को महाकाव्य, रोमांचक आख्यान या कथा-काव्य कहा गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि "कथा-काव्य एवं महाकाव्य दोनों ही प्रबंधात्मक होते हैं तथा उनके अनेक बाह्य लक्षणों में समानता भी संभव है, किंतु दोनों की आधारभूत चेतना, उनके लक्ष्य व प्रयोजन में इतना गहरा अंतर है कि एक को दूसरे की कसौटी पर परखना अनुचित होगा। महाकाव्य के मूल में प्राय: आदर्शपरक (मर्यादावादी) चेतना होती है, जो किसी महत् पात्र या महान-पुरुष के चरित्र का अवतरण करती हुई उदात्त संदेश की व्यंजना करती है, जबकि कथा-काव्य की मूल चेतना स्वच्छंदतापरक होती है, उसमें आदर्श की स्थापना की अपेक्षा सौंदर्य प्रेम की अभिव्यंजना का तथा लोक-मंगल की अपेक्षा लोक-रंजन का लक्ष्य अधिक रहता है।'' (हिंदी साहित्य का इतिहास – (सं.) (डॉ. नगेन्द्र)।

संस्कृत आचार्यों द्वारा कथा-काव्य के जो लक्षण दिए गए हैं, उनके आधार पर सूफ़ी प्रेमाख्यान कथा-काव्य या रोमांस काव्य ही प्रतीत होते हैं – कारण, कथा-काव्य की अधिकांश रूढ़ियाँ इनमें लक्षित होती है। कथा-काव्य की रूढ़ियाँ निम्नलिखित हैं :

1. कथारंभ में देवता गुरु की वन्दना, ग्रंथकार का स्व: परिचय।

2. कथा - प्रयोजन का उल्लेख।

3. रचना का प्रतिपाद्य, प्रेयसी की प्राप्ति।

4. समकालीन शासक का उल्लेख, बीच बीच में धार्मिक नैतिक तत्वों का समायोजन, लोक शैली के अनिवार्य अंगों - लंबे और सिलसिलेवार वस्तु वर्णन का समावेश, कथा का समापन शान्त रस में, चौपाइयों के बीच-बीच में दोहे का प्रयोग तथा कथा को खंड में विभक्त करना।

ये उपर्युक्त रूढ़ियाँ सूफ़ी प्रेमाख्यानों के अंतर्वर्ती तत्व हैं। अत: इस आधार पर कहा जा सकता है कि सूफ़ी-प्रेमाख्यानक अपनी मूल चेतना के आधार से कथा-काव्य या रोमांचक आख्यान हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार कथानक को गति देने के लिए सूफ़ी कवियों ने प्राय: उन सभी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परंपरा से भारतीय कथाओं में व्यक्त होती रही हैं, जैसे - चित्र दर्शन, स्वप्न द्वारा अथवा शुक-सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना, मंदिर या चित्रशाला में प्रिययुगल का मिलन होना, इत्यादि। कुछ नई कथानक-रूढ़ियाँ ईरानी साहित्य से आ गई हैं, जैसे प्रेम व्यापार में परियों और देवों का सहयोग, उड़ने वाली राजकुमारियाँ , राजकुमारी का प्रेमी को गिरफ्तार करा लेना इत्यादि। परंतु इन नई कथानक शैलियों को भी कवियों ने पूर्ण रूप से भारतीय वातावरण के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है।

7.10 काव्य-शैली

सूफ़ी प्रेमाख्यानक कवियों ने विविध काव्य-शैलियों का संदर्भगत और विषयानुरूप प्रयोग किया है। लोक-रंगत के कारण वस्तु-वर्णन प्राय: इतिवृत्तात्मक, **अभिधापरक शैली** में किए गए हैं। लोक जीवन के विविध रूपों में अत्युक्ति, अतिशयोक्ति आदि का भी यथासंभव सुंदर प्रयोग किया गया है। मुख्यत: प्रकृति, नारी सौंदर्य, विरह-वेदना के प्रसंगों में इस शैली का उपयोग किया गया है।

सूफ़ी काव्य में प्रयुक्त दूसरी शैली **प्रतीकात्मक** है। लौकिक प्रेम-व्यापारों के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना करने वाले ये आख्यान काव्य अपनी प्रकृति से कथा-रूपक हैं। सभी आख्यानों के ऐतिहासिक, काल्पनिक पात्र प्रतीकात्मक भूमिका में सामने आते हैं। अलाउद्दीन, रत्नसेन, पद्मावती, हीरामन तोता, नागमती के अपने-अपने प्रतीकार्थ हैं :

> "सिंघल दीप पदुमिनी रानी। रतनसेनि चितउर गढ़ आनी।
> अलाउद्दीन दिल्ली सुलतान। राधौ चेतन कीन्ह बखान।।
> सुना सहि गढ़ छेंका आई। हिंदु तुरकन भई लराई।
> आदि अंत जसि कथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।।"

सूफ़ी जन-मानस के कवि हैं। अत: जन-मानस की लौकिक-पारलौकिक आकांक्षाएँ उनके साहित्य में यथास्थान अभिव्यक्त हुई हैं। इसलिए उन्होंने अन्योक्ति, समासोक्ति का माध्यम ग्रहण किया। प्रस्तुत के माध्यम से अप्रस्तुत का संकेत या प्रस्तुत के साथ-साथ अप्रस्तुत का संकेत इनके यहाँ दिखाई पड़ता है - सांसारिक जीवन की क्षण भंगुरता, अत: उसका पूर्ण भोग, (द्वन्द्वों से ऊपर उठकर) जीवन खेल-खेलना और लोकोत्तर ईश्वर तत्व की ओर बढ़ना पद्मावत की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है :

> "ए रानी मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।।
> जब लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौ खेलहु आजु।।
> पुनि सासुर हम गौनब कालि। कित हम कित यह सरवर पालि।।"

(पद्मावत - मानसंरोदक खंड)

7.11 काव्य-भाषा, अलंकार एवं छंद-विधान

अधिकांश सूफी कवि देश के पूर्वी भागों के निवासी थे, अत: इनकी काव्य भाषा अवधी रही। अवधी का लोक-प्रचलित सरल एवं सरस रूप ही इनके यहाँ प्रयोग में लाया गया है पर भाषा पर अधिकार प्रतिनिधि कवियों के यहाँ ही दिखाई देता है। पं. परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार - "सूफी प्रेम-गाथा के कवियों का भाषा पर पूरा अधिकार सर्वत्र नहीं लक्षित होता। जायसी, जान कवि, उसमान और नूर मुहम्मद इस विषय में अधिक सफल जान पड़ते हैं। जायसी द्वारा किया गया शुद्ध और मुहावरेदार अवधी का प्रयोग तथा नूर मुहम्मद का संस्कृत शब्द-भंडार पर अधिकार विशेष रूप से उल्लेखनीय है।" जायसी की भाषा का वैशिष्ट्य परंपरा के अन्य कवियों के लिए अनुकरणीय रहा है। अवधी का निजी मिजाज इनकी भाषा में हर कदम पर देखा जा सकता है। आ. शुक्ल ने जायसी की भाषा के सबंध में लिखा - "जायसी की भाषा बहुत ही मधुर है, पर उसका माधुर्य निराला है। वह माधुर्य 'भाषा' का माधुर्य है, संस्कृत का माधुर्य नहीं। वह संस्कृत की कोमलकांत पदावली पर अवलंबित नहीं। उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है, मंजु 'अमंद' आदि की चाशनी उसमें नहीं है। जायसी की भाषा और तुलसी की भाषा में यह बड़ा भारी अंतर है। जायसी की पहुँच अवध में प्रचलित लोकभाषा के भीतर बहते हुए माधुर्य स्रोत तक ही थी...........अवधी की खालिस, बेमेल मिठास के लिए 'पद्मावत' का नाम बराबर लिया जाएगा।" इस परंपरा में कतिपय आख्यान राजस्थानी एवं ब्रजभाषा में भी लिखे गए। हंसावली, लखनसेन पद्मावती कथा, माधवानलकामकंदला, ढोला मारूरा दूहा, आदि राजस्थानी में तथा नंददास की 'रूपमंजरी' और जान कवि के प्रेमाख्यान ब्रजभाषा में रचे गए हैं। लोकप्रचलित देशज एवं विदेशी शब्द भी इनके यहाँ देखे जा सकते हैं। इनमें अरबी, फारसी, तुर्की, तद्भव, भोजपुरी आदि भाषा के शब्द प्रमुख हैं। सूफी आख्यानकारों द्वारा प्रयुक्त मुहावरों एवं लोकोक्तियों में अवधी भाषा की गंध का अनुभव किया जा सकता है। अलंकारों के प्रयोग में परंपरा पालन की प्रवृत्ति ही प्रमुख रही है। विषय की अपेक्षा के अनुरूप अतिशयोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अन्योक्ति का सुन्दर प्रयोग देखा जा सकता है। अन्य अलंकार छुट-पुट रूप में इन प्रेमाख्यानों में दिखाई पड़ते हैं।

छंद प्रयोग की दृष्टि से भी इन्होंने फारसी की बहरों को न अपनाकर भाषा के अपने छंद विधान को अपनाया है। इनके द्वारा प्रयुक्त मुख्य छंद चौपाई दोहा छंद है। इन कवियों के छंद प्रयोग पर दृष्टि डालते हुए आ. द्विवेदी ने लिखा - "चौपाई और दोहा में काव्य लिखने की प्रथा पूर्वी प्रदेशों में ही पाई जाती है। पश्चिमी-प्रदेशों की काव्य पद्धति पद्धड़िया बंध प्रथा थी। कभी-कभी दूसरे छंद भी व्यवहृत होते थे, परंतु साधारण प्रथा धत्ता ही की थी। इस प्रकार आठ पद्धड़िया या अलिल्लह छंद के बाद जो धत्ता दिया जाता था उसे अपभ्रंश में 'कड़वक' कहते थे। चौपाई और दोहे का सबसे पुराना प्रयोग सरहपाद की रचनाओं में मिलता है। शुरू-शुरू में पाई जाने वाली सूफी कहानियों में पाँच-पाँच अर्द्धालियों के बाद दोहा देने का नियम था पर मलिक मुहम्मद जायसी ने आठ-आठ अर्द्धालियों पर दिया है। आगे चलकर यह प्रथा रूढ़ हो गई। किसी-किसी सूफी कवि ने दोहे का धत्ता न देकर अन्य छंदों का भी धत्ता दिया है। कितनी अर्द्धालियों के बाद धत्ता दिया जाएगा, इसका कोई नियम नहीं है। किसी ने पाँच, किसी ने छः, किसी ने सात अर्द्धालियों पर दोहा लिखा है। कभी कभी नौ अर्द्धालियों पर भी दोहे का धत्ता मिलता है।" (हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास - हजारी प्रसाद द्विवेदी)

इनके अतिरिक्त सूफी कवियों के यहाँ सोरठा, बरवै, कवित्त, सवैया, कुण्डलिया तथा झूलना का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

7.12 सारांश

इस इकाई में आपने निर्गुण प्रेममार्गी काव्यधारा का अध्ययन किया। आपने पढ़ा कि सूफी प्रेमाख्यानों का पल्लवन और विकास जिस क्षेत्र में हुआ वह भक्ति-आंदोलन का मुख्य केंद्र रही। हिंदी की मध्ययुगीन कविता का यह रूप युग के महत्वपूर्ण ध्रुवों - राजाश्रय एवं धर्माश्रय को छोड़ लोकाश्रय में पनपा। लोक भूमि में पल्लवित पोषित होने के कारण ही इसमें लोक मन की साहित्यिक अभिव्यक्ति हुई। मनुष्यता के सामान्य भावों को अपने प्रेमाख्यानों द्वारा चरितार्थ कर इन्होंने एक संवाद-सेतु निर्मित किया, जहाँ व्यक्ति, संप्रदाय, मत, सिद्धांत, वाद की खाइयाँ अपने आप पट जाती हैं। इन्होंने मनुष्य के भीतर छिपे प्रेम की रचनात्मक शक्ति को पहचाना और युगीन-आवश्यकता की जमीन पर उसका प्रतिपादन किया :

"मानुष प्रेम भएउ बैकुंठी।
नाहिं तो काह छार इक मूठी।।"

सूफ़ी कवियों जैसी उदार प्रकृति ही इस जीवन-शक्ति को उद्घाटित करने में समर्थ हो सकती है। वादों से जन्मी द्वैत दृष्टि के लिए यह संभव नहीं। उन्होंने न केवल अपने आख्यानों द्वारा बल्कि अपने मत, सिद्धांत, रहस्यानुभूति, काव्य-रूप, भाषा एवं अभिव्यक्ति के नाना रूपों द्वारा मनुष्य-मात्र के भीतर विद्यमान तार को झंकृत किया। इस लक्ष्य को समन्वय दृष्टि से ही सिद्ध करना संभव था। परंपरा को रूढ़ि समझ कर त्यागने की भूल करने वालों के लिए यह कविता एक चुनौती है। परम्परा और युग धर्म के समन्वय से ही सूफ़ी रचनाकारों की कविता कालजयी एवं कालमयी हो गई। सूफ़ी काव्यधारा अपने प्रेम भाव की सरसता एवं जनधर्मिता के कारण ही व्यापक स्वीकृति पा सकी।

7.13 अभ्यास प्रश्न

1. सूफ़ी शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियों पर विचार करते हुए सूफ़ी शब्द के मूलार्थ को स्पष्ट कीजिए।
2. सूफी मत एवं सिद्धांत को प्रभावित करने वाले भारतीय तत्वों का उल्लेख कीजिए।
3. 'सूफ़ी प्रेमाख्यान' में प्रयुक्त प्रेमाख्यान का अर्थ स्पष्ट करते हुए सूफ़ी प्रेमाख्यानों के वैशिष्ट्य को रेखांकित कीजिए।
4. जायसी पूर्व एवं जायसी उत्तर सूफ़ी प्रेमाख्यानक परंपरा पर प्रकाश डालिए।
5. सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य की मूल प्रेरणा पर विचार कीजिए।
6. सूफ़ी प्रेमाख्यानों के संदर्भ में निम्नलिखित विषयों पर विचार कीजिए :

   (i) भाव व्यंजना तथा रस निरूपण

   (ii) चरित्र चित्रण

   (iii) काव्य-रूप
7. सूफ़ी कवियों के अभिव्यक्ति-विधान पर एक निबंध लिखिए।

इकाई 8 कृष्ण भक्ति काव्य

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- कृष्ण के मिथकीय व्यक्तित्व के विकास को समझ सकेंगे;
- भक्ति चिंतन और भक्ति संवेदना के आधार पर कृष्ण काव्य का मूल्यांकन कर सकेंगे;
- कृष्ण काव्य के संदर्भ में मध्यकालीन समाज के अंतर्द्वन्द्वों की चर्चा कर सकेंगे; और
- कृष्ण भक्ति के संदर्भ में उपजे सांस्कृतिक आंदोलन को भी आप समझ सकेंगे, जिसने कला के विविध क्षेत्रों को प्रभावित किया।

8.1 प्रस्तावना

कृष्ण भक्तिकाव्य एक लंबा समय पार करता है। कृष्ण का व्यक्तित्व प्राचीन है और उसमें परिवर्तन होते रहे हैं। इतिहास, गाथा, पुराण, मिथकीय जगत् सब उसमें सम्मिलित हुए हैं। महाभारत में वे सूत्रधार की भूमिका में हैं और यह उनकी असंदिग्ध स्वीकृति है। मध्यकाल तक आते-आते कृष्ण का अवतारी रूप भारतीय भाषाओं की रचनाशीलता में स्थापित हुआ। भागवत् को भक्ति का प्रस्थान ग्रंथ स्वीकार किया जाता है जहाँ कृष्णलीला के उत्स मौजूद हैं, राधा की अनुपस्थिति अवश्य आश्चर्य में डालती है। लगभग इसी समय छठी-नौवीं शताब्दी के बीच तमिल आलवार संतों का दिव्यप्रबंधम है जहाँ कृष्णभक्ति को पूरी रागमयता में

प्रस्तुत किया गया। पुराणों में कृष्ण का मानुषीकरण भक्तिकाव्य को नयी दिशाओं में अग्रसर करता है और उसे व्यापकता मिलती है। जयदेव से लेकर अष्टछापी कवियों, सूरदास आदि तक इसकी लीला का प्रसार है।

एक विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि कृष्णभक्ति काव्य के विकास में वैष्णवाचार्यों की भूमिका क्या है और कवियों ने इस चिंतन का उपयोग कैसे किया। आलवार संतों की भक्ति भावनामय है, पर भागवत को कृष्ण के अवतारी रूप का बराबर ध्यान है और उसमें ईश्वरत्व के संकेत निरंतर मौजूद हैं। रामानुजाचार्य ने भक्ति का प्रपत्ति दर्शन विकसित किया जिसमें सब सम्मिलित हो सकते हैं। पर जहाँ तक कृष्णभक्ति का संबंध है, निम्बार्क का प्रमुख स्थान है जो कृष्ण अथवा वासुदेव को पर ब्रह्म मानते है - सच्चिदानन्द। यहाँ राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति की स्वीकृति है। आगे चलकर वल्लाभाचार्य ने विशिष्टाद्वैत तथा पुष्टिमार्ग के माध्यम से इसे पूर्णता पर पहुँचाया। आचार्यों ने कृष्ण भक्तिकाव्य को बौद्धिक आधार दिया, पर कवियों ने उसे संवेदन-संसार में विलयित करने का प्रयत्न किया। साथ ही इसको व्यापकत्व भी मिला। हिंदी कृष्ण भक्त कवियों के साथ बंगाल में चैतन्य, चंडीदास आदि हैं और असम में शंकर देव।

कृष्ण भक्तिकाव्य मध्यकालीन सामंती समाज की उपज है पर उसका वैशिष्ट्य यह है कि वह उसे संवेदना के धरातल पर ललकारता भी है। सामंती देहवाद के स्थान पर वह प्रेममय रागभाव को स्वीकृति देता है, जिसका पर्यवसान भक्ति में होता है। जिस गोकुल-वृन्दावन में कृष्णलीला का सर्वोत्तम रचाया गया, वह बैकुंठ समान है। कृष्ण, जीव के सुख के लिए अवतरित होते हैं और वे निर्विकार हैं। बाल लीलाओं के माध्यम से कृष्ण का निर्मल रूप उभरता है और गोवर्धन लीला जैसे प्रसंगों से कृष्ण के व्यक्तित्व का लोकरक्षक रूप स्थापित होता है क्योंकि वे इन्द्र को चुनौती देते हैं। कृष्ण का व्यक्तित्व खुली भूमि पर है, जिसमें प्रकृति की भी भूमिका है। यहाँ यथार्थ लोकसंस्कृति के माध्यम से आया है, इसलिए उसकी पहचान कठिन है।

एक प्रश्न लोक और शास्त्र अथवा लोकछवि का भी है। भक्ति का शास्त्र निर्मित हुआ और काव्यशास्त्र भी। पर कृष्ण-भक्तिकाव्य शास्त्र के स्थान पर लोक का वरण करता है और कर्मकांड आदि की यहाँ कोई अनिवार्यता नहीं है। उपास्य-उपासक के मध्य सीधा संवाद इसकी विशेषता है। कृष्ण की जो लोकछवि लीलाओं के माध्यम से उभरती है, वही उन्हें पूज्य बनाती है। इसलिए कवियों का आग्रह सगुण भक्ति पर है, जिसका आधार कृष्ण की विभिन्न लीलाएँ हैं - बालजीवन, माखनलीला, वृन्दावन विहार, रास आदि। ये कवि मानते हैं कि निर्गुण कठिन है, इसलिए वे सगुण का वरण करते हैं। भ्रमरगीतसार प्रसंग में गोपिकाएँ ऊधौ द्वारा प्रतिपादित निर्गुण को अस्वीकार कर देती हैं। मर्यादा के स्थान पर यहाँ रागात्मकता का आग्रह है।

कृष्ण भक्तिकाव्य में अष्टछाप के कवियों को विशेष महत्व दिया जाता है, जिनमें सूरदास सर्वोपरि हैं। रागभाव से भक्ति के उच्चतम धरातल पर पहुँचने के प्रयत्न में कवियों ने ब्रजभाषा के लोकभाषा रूप को ग्रहण किया और लोकप्रियता मिली। संगीत से मिलकर वह जनवाणी में प्रवेश कर गया। यह भी विचारणीय पक्ष है कि क्या कृष्ण भक्तिकाव्य को कृष्ण-चरागाही संस्कृति से संबद्ध कर के देखा जा सकता है। इस इकाई में हम इस विषय पर भी विचार करेंगे। एक उल्लेखनीय पक्ष यह है कि कृष्ण भक्तिकाव्य कलाओं के अंतरावलम्बन का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। अपनी दृष्टि में वह उदार है कि रसखान जैसे कवि इस ओर आकृष्ट हुए। कृष्णलीला, साहित्य के अतिरिक्त संगीत, चित्र आदि के माध्यम से भी व्यक्त हुई और इस प्रकार कृष्ण भक्तिकाव्य का समग्र कला-संसार निर्मित हुआ और उसे व्यापकत्व मिला।

8.2 कृष्ण का विकास

भारतीय परंपरा में राम और कृष्ण दो ऐसे विशिष्ट चरित्र हैं, जिन्होंने संपूर्ण रचनाशीलता को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। उन्हें विष्णु के अवतार के रूप में देखा गया और भारतीय समाज में उन्हें व्यापक स्वीकृति मिली। प्राय: माना जाता है कि राम त्रेता के अवतार हैं और कृष्ण द्वापर के। पर विचारणीय तथ्य यह है कि कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास कुछ चरणों में हुआ और मध्यकाल तक आते-आते उनमें इतिहास के साथ गाथा का ऐसा संयोजन हो चुका था कि उन्हें "सोलह कला अवतार'' कहा गया। भारतीय रचनाशीलता ने कृष्ण के बालरूप से लेकर महाभारत तक के उनके व्यक्तित्व का उपयोग किया और वे ऐसे चरित्र हैं जो केवल साहित्य तक सीमित नहीं हैं, नृत्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, लोक समग्र रचना-संसार में

उनकी उल्लेखनीय उपस्थिति है। कृष्ण का चरित्र इतिहास के लंबे प्रवाह में रूपांतरित होता रहा है और महाभारत से लेकर पुराण तक उन्होंने जो स्वरूप ग्रहण किया, उससे उनका बहुरंगी व्यक्तित्व निर्मित हुआ। कवियों ने इसे अपने-अपने ढंग से ग्रहण किया।

8.2.1 अवतारवाद और कृष्ण का मानुषीकरण

कृष्ण का नामोल्लेख यद्यपि ऋग्वेद में है और वैदिक युग के देवता इन्द्र के प्रतिद्वंद्वी रूप में उन्हें देखा गया है, पर वास्तविकता यह है कि महाभारत में कृष्ण के मानुषीकरण का जो प्रयत्न हुआ है वह रचनाशीलता की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। ध्यान रखना होगा कि देवत्व का अलौकिक और कई बार अविश्वसनीय चमत्कार से भरा रूप कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। उससे भय और आतंक का संचार तो हो सकता है, पर संवाद तथा साधारणीकरण में कठिनाई होती है। अग्रसर होते इतिहास में, भारतीय समाज में कई प्रकार के तत्व संयोजित हुए, जिन्होंने कृष्ण के रूपायित होने में अपने प्रभाव का परिचय दिया। हमारे लिए कृष्ण के व्यक्तित्व-विकास के इतिवृत्त पर विचार करना इतना उपयोगी नहीं, जितना यह कि जब रचना में उन्हें केंद्रीयता मिली, तब उनके चारों ओर एक समग्र गाथा-संसार निर्मित हो चुका था। इतिहास के बिंदु पृष्ठभूमि में चले गए थे और लोकमानस ने उन्हें अपना प्रिय आराध्य स्वीकारते हुए, उनमें कई ऐसे तत्वों का प्रवेश करा दिया था, जिनमें लोक उपादानों और कल्पना की भूमिका होती है। वे इतिहास से चलकर एक गाथा-पुरुष बने और उनके चारों ओर एक मिथकीय संसार निर्मित हुआ।

अवतारवाद के विकास में नर और नारायण के संयोजन की भूमिका महत्वपूर्ण है। परिकल्पित देवत्व की विश्वसनीयता के लिए यह आवश्यक है कि पृथ्वी पर उसका अवतरण हो, नारायण नर रूप में अवतरित हों। इसके लिए तर्क दिया गया कि जब मूल्य-मर्यादाएँ विनष्ट हो जाती हैं, अत्याचार-अनाचार बहुत बढ़ जाते हैं, तब संसार में सत्य की प्रतिष्ठा के लिए देव का मनुष्य रूप में अवतरण होता है। गीता ने इसे कृष्ण से ही कहलवाया : "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,, धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे"। महाभारत एक विकसनशील महाकाव्य माना जाता है और ई.पू. समय में उसका रूप स्थिर हुआ। वहाँ कृष्ण सूत्रधार हैं, यथार्थ की भूमि पर। उनका प्रयत्न है कि पांडव-कौरव संघर्ष न हो और वे इसे टालने की भरसक चेष्टा करते हैं। वे युद्ध के विनाशकारी रूप को समझते हैं, पर जब युद्ध आ ही गया है तो वे पांडवों के साथ हैं, जिनकी विजय में उनकी भूमिका असंदिग्ध है। कोई और साधारण चरित्र होता तो उसकी नैतिकता को लेकर प्रश्न उठाए जा सकते हैं कि आखिर कृष्ण ने ऐसा क्यों किया? शिखंडी की सहायता से भीष्म पर आक्रमण, अश्वत्थामा की मृत्यु की गलत सूचना के सहारे द्रोणाचार्य का अंत और दुर्योधन पर कटि के नीचे भीम का गदा प्रहार आदि कृष्ण को कटघरे में खड़ा करने के लिए पर्याप्त हैं। पर हमारे लिए विचारणीय तथ्य यह है कि कृष्ण यथार्थ और वास्तविकता की भूमि पर उपस्थित हैं, और वही जानते हैं कि कोरे आदर्शवाद के सहारे युद्ध नहीं जीता जा सकता। आखिर शकुनि ने भी तो छल से ही जुआ जीता था और अभिमन्यु को चक्रव्यूह में आठ महारथियों ने घेर लिया था। यदि गीता महाभारत का ही अंश है तो दो कृष्ण हैं - महाभारत के सूत्रधार कृष्ण और गीता के परमज्ञानी कृष्ण।

8.2.2 भागवत और सगुण कृष्ण

अभी जो हमने चर्चा की उस का प्रयोजन यह है कि कृष्ण यथार्थ की भूमि पर उपस्थित नायक हैं, परिवर्तित समय का बोध कराते हुए। कवियों ने रचना में जब उनका उपयोग किया, तब उन्हें पुनर्सर्जित करने का प्रयत्न किया। सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि रचना में कृष्ण का सुदर्शन चक्रधारी और महाभारत का सूत्रधार रूप परिपार्श्व में चले गए। यदि कहीं साहित्य में आए भी तो प्रायः वर्णनात्मक ढंग से। इसके स्थान पर उनकी बाललीला, गो-चारण, गोकुल-प्रसंग , वृन्दावन विहार, गोप-गोपी साहचर्य, रास प्रकरण, राधा-प्रेम प्रमुखता पा गए। इस संदर्भ में भागवत को प्रस्तुत किया जा सकता है जिसे ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता के क्रम में चतुर्थ प्रस्थान कहा गया है, भक्ति का प्रस्थान ग्रंथ तो वह है ही। पुराणों में - कृष्णलीला का वर्णन विस्तार से आया है, पर ब्रह्मवैवर्त का उल्लेख इसलिए जरूरी है कि यहाँ राधा उपस्थित है। भागवत में उनका न होना आश्चर्यजनक है और विद्वानों के समक्ष कठिनाई उपस्थित करता है कि ऐसा क्यों हुआ कि कृष्ण प्रिया राधा यहाँ अनुपस्थित हैं। कई तर्क दिए जाते हैं और उनमें एक यह कि राधा आभीरों की प्रिय देवी है। घूमंतू जाति के रूप में पश्चिम से चलकर वह उत्तर भारत आई। जहाँ भागवत की रचना हुई, वह

दक्षिण का भाग उस रूप माधुरी-संपन्न नारी व्यक्तित्व से अछूता रहा गया। पर इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भागवतकार को बराबर यह एहसास है कि जिस कृष्ण का लीला-गान वह कर रहा है वह नर रूप होकर नारायण है और लौकिक होकर भी दिव्य है। इसी माध्यम से भक्ति-स्थापना का उद्देश्य संपादित होता है। लीला, जीवधारियों के सुख के लिए है और देवरूप कृष्ण उसमें नर रूप में सम्मिलित होकर भी असम्पृक्त हैं। भागवत में रासलीला के मध्य कृष्ण का अंतर्धान हो जाना और गोपिकाओं का विरह-प्रलाप इस दृष्टि से विचारणीय है कि नर-लीला के बावजूद कृष्ण का देवरूप सुरक्षित रहना चाहिए। भागवत में बार-बार कृष्ण के देवत्व का उल्लेख है और एकादश अध्याय में भक्ति का विस्तृत विवेचन है। यहाँ भक्ति समाजीकृत होती है, जातिवाद की सीमाएँ टूटती हैं क्योंकि भक्ति सबके लिए है।

8.3 भक्ति चिंतन

प्राय: कह दिया जाता है कि भागवत भक्ति का प्रस्थान ग्रंथ है और चूंकि वह कृष्णगाथा से संबद्ध है, इसलिए कृष्ण भक्तिकाव्य उसी से प्रेरणा ग्रहण करता है। पर यहाँ कुछ तथ्य विचारणीय हैं जिनमें एक सैद्धांतिक पक्ष यह है कि इतिहास, गाथा अथवा किसी कालखंड विशेष की सामग्री का उपयोग जब रचना में होता है, तब यह प्रक्रिया अनुवाद की नहीं होती। परिवर्तित समय-संदर्भ में उसकी नयी व्याख्या होती है और रचना में एक प्रकार से उसका पुनर्जन्म होता है। महाभारत, भागवत, आलवार संत, जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास से लेकर सूरदास तक कृष्णकथा का स्वरूप एक ही नहीं है। समय और कवि की अपनी दृष्टि कृष्ण को रूपायित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। कृष्णभक्ति काव्य के संदर्भ में एक प्रासंगिक प्रश्न यह भी उठता है कि कृष्णगाथा के साथ-साथ जो भक्ति चिंतन विकसित हो रहा था, उसने रचनाशीलता को किस रूप में प्रभावित किया। दर्शन विचारधारा, रचना को किस सीमा तक प्रभावित करते हैं और साथ ही रचनाकार के समक्ष एक बड़ी चुनौती यह भी होती है कि रचना के बृहत्तर संवेदन संसार में उसे किस प्रकार विलयित करें कि वह बाह्यारोपण न प्रतीत हो। कृष्णभक्ति काव्य नारायण को नर की भूमिका में प्रस्तुत करता है और देवों के मानुषीकरण की प्रक्रिया को गति देता है। कृष्णभक्त कवि का एहसास है कि वह जिस देव का वर्णन मानव रूप में कर रहा है, वह कहीं न कहीं विशिष्ट भी है। सामान्य के साथ विशिष्ट और साधारण के साथ असाधारण की इस द्वंद्वात्मक स्थिति को पार करते हुए भक्तिकाव्य जिस भक्तिदर्शन का संकेत संवेदन धरातल पर करता है, उसकी प्रेरणा तो उसे वैष्णवाचार्यों से मिली, पर कविता दर्शन शास्त्र, विचारधारा को अतिक्रमित करती हुई अधिक व्यापक विश्वसनीय संवेदन-संसार निर्मित करती है।

कृष्ण भक्तिकाव्य की पीठिका में व्यापक वैष्णव आंदोलन उपस्थित है, जिसने सभी भारतीय भाषाओं की रचनाशीलता को प्रभावित किया। मध्यकालीन कृष्ण भक्ति के संदर्भ में प्राय: एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि काव्य में प्रस्थान रूप में भागवत को स्वीकारा जाए अथवा आलवारों के दिव्यप्रबंधम को। इतिहास की दृष्टि से ये समकालीन भी कहे जा सकते हैं। अधिकांश विद्वानों का विचार है कि कृष्णकथा के रूप में भागवत मौखिक परंपरा के रूप में प्रचलित था और छठी-नौवीं शताब्दी के मध्य दक्षिण में इसने वर्तमान स्वरूप ग्रहण किया। आलवार संतों का समय भी यही है जिसे तमिल साहित्य का भक्तिकाल कहा जाता है। आलवार संतों के पदों का संकलन आचार्य नाथमुनि ने नौवीं शताब्दी के अंत में किया, जिसे 'दिव्यप्रबंधम' नाम दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत की बौद्धिक दृष्टि जहाँ कृष्ण के देवत्व को सुरक्षित रखने का प्रयत्न है और दिव्यप्रबंधम - जिसमें कृष्ण के प्रति आलवारों की सहज भावनामयता का प्रकाशन है - इन दोनों के संयोजन से परवर्ती कृष्ण भक्तिकाव्य विकसित हुआ। एक ओर कृष्ण का मानव रूप है जो उनकी लीलाओं के माध्यम से व्यक्त हुआ, दूसरी ओर उनके देवत्व के संकेत भी हैं। इतिहास की दृष्टि से यह भी उल्लेखनीय है कि गुप्त साम्राज्य का मुख्य वृत्त चौथी-पाँचवीं शताब्दी है, जिसे भागवत धर्म के पुनरुत्थानकाल के रूप में देखा जाता है।

8.3.1 वैष्णवाचार्यों की भूमिका

जिसे आज विचारधारा अथवा 'आइडियॉलाजी' कहा जाता है, उसके लिए मध्यकाल के संदर्भ में 'दर्शन'शब्द का प्रयोग किया जाता है। संपूर्ण भक्तिकाव्य के संदर्भ में यह प्रश्न कई रूपों में उठाया गया है कि इसके मूल

में कौन सी दार्शनिक अवधारणाएँ रही हैं और रचना को उन्होंने किस सीमा तक प्रभावित किया है। बहुत प्राचीन समय में जाने की आवश्यकता नहीं पर भारतीय मध्यकाल में जिसे दक्षिण का आचार्य युग कहा जाता है और जिसमें दिव्यप्रबंधम् के संकलनकर्ता नाथमुनि (नौंवी-दसवीं शती) प्रमुख प्रस्थान के रूप में हैं - इन्होंने भक्ति के द्वार सभी जातियों के लिए खोले। आगे चलकर चतुष्सम्प्रदाय बने : रामानुज, मध्व, निम्बार्क, विष्णु स्वामी। इन आचार्यों ने शंकराचार्य की अद्वैत वेदान्ती व्याख्या से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए, भक्ति का प्रवृत्तिमार्गी दर्शन निर्मित किया। रामानुज ने प्रपत्ति दर्शन अथवा शरणागति भाव का प्रतिपादन किया, जिसे संपूर्ण भक्तिकाव्य में देखा जा सकता है। ग्यारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के मध्य इन वैष्णवाचार्यों ने कई धरातलों पर कार्य किया। वे कल्पनाजीवी, अनुमानवादी भाष्यकार मात्र नहीं हैं, अपितु उन्होंने अपनी लंबी यात्राओं से दक्षिण-उत्तर को सांस्कृतिक स्तर पर जोड़ने का प्रयत्न भी किया। बौद्धिक स्तर पर भक्ति का विवेचन करते हुए, उन्होंने शास्त्र के साथ ही लोक को भी अपने सामने रखा और इस प्रकार भक्तिकाव्य के लिए दार्शनिक पृष्ठभूमि निर्मित की।

चार प्रमुख वैष्णवाचार्यों के अलावा रामानन्द और वल्लभाचार्य का सांस्कृतिक प्रदेय सर्वाधिक उल्लेखनीय है। जहाँ तक कृष्ण भक्तिकाव्य का संबंध है, दार्शनिक निष्पत्तियों के लिए निम्बार्क और वल्लाभाचार्य का उल्लेख विशेष रूप से किया जाता है। निम्बार्क (बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी) देव कृष्ण को सर्वोपरि पर ब्रहम मानते हैं - सत् चित आनन्द से सम्पन्न। जो राधा भागवत में अनुपस्थित हैं वे निम्बार्क में महत्वपूर्ण स्थान पर हैं। इससे कृष्ण भक्तिकाव्य को नई गतिशीलता प्राप्त हुई। निम्बार्क संप्रदाय में यद्यपि प्रपत्ति अथवा शरणागति का भाव रामानुजाचार्य से साम्य रखता है, पर यहाँ आग्रह प्रेमभाव पर है। जिस राधा के लिए प्राय: ब्रह्मवैवर्त पुराण को आरंभिक प्रस्थान के रूप में स्वीकार किया जाता है, वह निम्बार्क संप्रदाय में विशिष्ट स्थान पर है। कृष्ण यदि सर्वेश्वर हैं तो राधा सर्वेश्वरी और इस प्रकार दोनों की समान स्थिति है। इससे कृष्ण भक्तिकाव्य के लीला प्रसंग को नई भंगिमा प्राप्त हुई। प्राय: कहा जाता है कि कृष्ण भक्तिकाव्य को नई दिशाओं में अग्रसर करने का श्रेय वल्लभाचार्य (पंद्रहवी-सोलहवीं शती) को है। वल्लभ का दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैत है जो शंकर के मायावाद का खंडन करता है। उन्होंने माया को ब्रह्म की शक्ति के रूप में निरूपित किया, पर यह भी प्रतिपादित किया कि ब्रह्म उसके आश्रित नहीं हैं। वल्लभ के लिए कृष्ण ही परब्रहम हैं जो परमानन्द रूप हैं - परम आनन्द के दाता। कल्पना की गई कि ब्रह्म कृष्ण का जो अविकृत रूप है, वह हर स्थिति में बना रहता है, वह शुद्ध अद्वैत है। रमण की इच्छा से, वे नर रूप ग्रहण करते हैं, जहाँ मुख्य आशय जीव के सुख और कल्याण है। इस प्रकार वल्लभ का भक्ति चिंतन ईश्वर और जीव के मध्य एक घनिष्ठ संबंध स्थापित करता है, जहाँ ब्रह्म लीला भूमि में संचरित होकर भी शुद्ध है, और जीव उनसे तदाकार होकर आनन्द की उपलब्धि करता है। दर्शन में जो शुद्धाद्वैत है, वह व्यवहार अथवा साधना पक्ष में **पुष्टि मार्ग** कहा जाता है। 'पुष्टि' का अर्थ है ईश्वर के अनुग्रह, प्रसाद, अनुकम्पा अथवा कृपा से पुष्ट होने वाली भक्ति। यहाँ ईश्वर की कृपा ही प्राप्य है, वही परम सुख और परम आनन्द है। कृष्णभक्ति में गोपिकाएँ मोक्ष की कामना नहीं करतीं, कृष्ण का दर्शन ही उनकी लालसा है, वही उनका सुख है। कृष्ण के प्रति निश्छल भाव से संपूर्ण समर्पण पुष्टि मार्ग का आग्रह है। इस प्रकार वल्लभ रामानुज की शास्त्रीय प्रपत्ति और शरणागति भाव को एक नयी दीप्ति प्रदान करते हैं। उन्होंने राधा की कल्पना कृष्ण की परम आह्लादिनी शक्ति के रूप में की। इस प्रकार इन आचार्यों ने कृष्ण भक्तिकाव्य को पुष्ट वैचारिक आधार दिया, जिसे कवियों ने अपने संवेदन संसार में विलयित करने का प्रयत्न किया।

कृष्णभक्ति के विकास में आचार्यों की भूमिका के कुछ प्रमुख पक्ष हैं, जिन पर हमारा ध्यान जाना चाहिए। निम्बार्क, वल्लभ के साथ चैतन्य का भी उल्लेख करना होगा, जिन्होंने पूर्वांचल में कृष्णभक्ति का प्रचार किया और अपने षट्गोस्वामियों - रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी आदि को वृन्दावन भेजा। इस प्रकार पूर्वांचल ब्रजभूमि से जुड़ा। चैतन्य के चिंतन का आधार भागवत् है, पर उनके चिन्तन में राधा की उल्लेखनीय उपस्थिति है जिन्हें राधाभाव, महाभाव आदि के रूप में प्रस्तुत किया गया। इससे प्रेमभक्ति को प्रमुखता मिली, जिसे कीर्तन आदि के माध्यम से व्यक्त किया गया। कीर्तन-भाव के लिए चण्डीदास का स्मरण विशेष रूप से किया जाता है। भक्ति चिंतन के आधार पर चैतन्य के शिष्य रूपगोस्वामी ने भक्ति का एक शास्त्र निर्मित करने का प्रयत्न किया और 'भक्ति रसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रंथ लिखे। कृष्णभक्ति के आचार्य एक ओर दार्शनिक हैं और भक्ति का शास्त्र भी निर्मित करना चाहते हैं पर दूसरी ओर उन्हें यह एहसास भी है कि चिंतन की सार्थकता जीवन से सबंद्व होने में है, इसलिए वे इसके व्यवहार

रूप अथवा साधना पक्ष की ओर भी ध्यान देते हैं। शास्त्र और लोक के द्वैत को पाटने का उनका यह प्रयत्न विशेष रूप से विचारणीय है क्योंकि इससे कृष्ण भक्तिकाव्य को एक ओर वैचारिक आधार मिला और दूसरी ओर उसकी लोक-सम्पृक्ति में गति आई। भाव-विचार की यह मैत्री उसे इतिहास के लंबे प्रवाह में संचरित करती है। कोरे तर्काश्रित विचार रचना में अधिक उपयोगी नहीं हो पाते और मात्र भावुकता लंबी दूरी नहीं तय कर पाती। कृष्णभक्ति के आचार्यों ने राधा को प्रमुख स्थान देते हुए कृष्णलीला को नए आयाम दिए और उन्होंने राधा को कृष्ण से अपृथक् रूप में चित्रित किया। आगे चलकर हित हरिवंश (सोलहवीं शती) ने राधा को केंद्र में रखकर राधा-वल्लभ संप्रदाय की स्थापना की जहाँ राधा-कृष्ण की युगल उपासना का आग्रह मिलता है।

कृष्णभक्ति के आचार्यों ने कृष्ण के व्यक्तित्व को सहज मानव भूमि दी और सभी वर्गों, जातियों का प्रवेश यहाँ संभव हो सका। इस संदर्भ में प्राय: निर्गुण मत को यह श्रेय दिया जाता है कि वहाँ सामान्यजन के लिए अधिक अवसर है और कबीर से लेकर नानक तक की परंपरा इसका प्रमाण है। पद्धति का अंतर हो सकता है पर कृष्णभक्ति के आचार्यों के समक्ष भी यह आशय मौजूद है कि कृष्ण के व्यक्तित्व को अधिकाधिक सामान्यीकृत कैसे किया जाए। आचार्यों के साथ कृष्णभक्त कवियों के सामने भी यह प्रश्न बराबर उपस्थित है कि कृष्ण की लीलाओं के माध्यम से उन्हें सामान्यजन का समीपी बनाया जाए। पर वे इस कठिनाई को भी जानते हैं कि जिस प्रेम के माध्यम से भक्ति तक पहुँचने का उपक्रम किया जा रहा है, उसमें उदात्तता का प्रवेश कराना ही होगा, नहीं तो काव्य में साधारण रसिक रेखाएँ उभर कर रह जाएँगी। यह दुर्घटना रीतिकालीन काव्य के साथ हुई, जहाँ राधा-कृष्ण साधारण नायक-नायिका की भूमि पर आ गए।

8.3.2 मध्यकालीन समय और समाज

भक्तिकाव्य एक लम्बा समय पार करता है - चौदहवीं शती के आरंभ से लेकर सत्रहवीं शती के लगभग मध्य भाग तक और इसी दौर में कृष्ण भक्तिकाव्य भी सक्रिय है। इतिहास की दृष्टि से यह सल्तनतकाल और मुगलकाल है, जिसका मूल ढाँचा सामंती है। यहाँ प्रधान शासक हैं, सुल्तान तथा बादशाह, जिनके चारों ओर एक सामंती समाज है - उच्च पदों पर आसीन राजकुल से सबंद्ध अधिकारी, सेनापति, वजीर, अमीर-उमरा से लेकर हजारी मनसबदार तक। केंद्रीय सत्ता को सुदृढ़ करने के लिए सूबों में विश्वसनीय सूबेदार हैं, जो प्रमुख शासक की तर्ज पर अपना दरबार चलाते हैं। इन सबसे देशी भाषाओं को नई सक्रियता मिली और भक्तिकाव्य की रचनाशीलता को नई दिशाएँ मिलीं। इस सम्पन्न सामंती समाज के विपरीत बहुसंख्यक ग्राम समाज है, अतिवृष्टि-अनावृष्टि से जूझता हुआ। यहाँ देखा जाए तो दो अलग संसार हैं, जैसे एक भोग विलास में मग्न और दूसरा जीवन-संघर्ष में उलझा हुआ। यह राजनीतिक-सामाजिक स्थिति है, जिसमें वर्ग-भेद स्पष्ट है। पर मध्यकालीन इतिहास का एक दूसरा पक्ष है, जिस ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए और जो भक्तिकाव्य की सही समझ के लिए आवश्यक है। इसका सबंध उस सांस्कृतिक परिवेश से है जो रचना को व्यापक स्तर पर प्रभावित करता है। आरंभिक टकराहट के बाद दो प्रमुख जातियों से पारस्परिक संवाद की जो प्रक्रिया आरंभ हुई, वह अकबर जैसे उदार शासकों के समय में अपनी पूर्णता पर पहुँची। उसके दीन-ए-इलाही अथवा सुलहकुल को व्यापक जनसमर्थन नहीं मिला, पर इसमें संदेह नहीं कि वह सर्वधर्म समभाव का ईमानदार प्रयत्न था। इस सांस्कृतिक सौमनस्य के उदाहरण के रूप में सूफियों के उदारपंथ को प्रस्तुत किया जाता है।

8.3.3 सामंतवाद का विरोध

कृष्ण भक्तिकाव्य इस मध्यकालीन सामंती समाज की भूमिका पर विकास पाता है। रचना-सामर्थ्य की जानकारी के लिए यह तथ्य उपयोगी है कि महान रचनाशीलता स्वीकृति और निषेध के द्वंद्व से निर्मित होती है। गहरे स्तर पर समाज की जटिलताओं की पहचान उसका प्रस्थान है, और परिवेश से टकराते हुए, बृहत्तर संवेदन-संसार की रचना उसका सही गंतव्य है। इसे 'विजन' अथवा कवि-स्वप्न कहा गया और यह जितना विराट होगा, रचना उतनी ही समर्थ होगी। कृष्ण भक्तिकाव्य में समय से टकराहट उस रूप में मुखर नहीं है, जिसके लिए प्राय: निर्गुणी संतों -कबीर आदि का उल्लेख किया जाता है। यहाँ तक कि तुलसी के कलिकाल वर्णन को मध्यकालीन यथार्थ के रूप में देखा जाता है - 'कलि बारहि बार दुकाल परै, बिन्नु अन्न दुखी सब लोग मरै' आदि। पर कृष्णभक्ति काव्य अपने समय को दूसरे ढंग से देखता-समझता है और

यहाँ मूल अंतर 'कवि-दृष्टि' का है। एक तो, यहाँ कृष्ण के बाल, किशोर, यौवन की लीलाओं का प्राधान्य है और महाभारत का सुदर्शन चक्रधारी रूप गौण हो गया है। दूसरे ब्रजमंडल की लीलाभूमि में गोकुल, वृन्दावन प्रमुखता प्राप्त करते हैं और सहचर रूप में राधा, गोपी, ग्वालि-बाल हैं। यहाँ प्रेम के माध्यम से भक्ति के सर्वोच्च धरातल पर पहुँचने का जो प्रयत्न है, वह एक प्रकार से सामंती समय के देहवाद के अतिक्रमण से उपजा है। प्रेम स्वयं में शुभ है, यदि उसमें शरीरवाद को पार कर सकने की क्षमता हो। कृष्णभक्त कवियों ने सामन्ती समाज के कुछ दृश्य स्वीकारे, महानायक कृष्ण के संदर्भ में कतिपय विरुद भी प्रयुक्त किए, पर उनकी निरंतर अभीप्सा यह है कि वे एक साथ कई सीमाओं का अतिक्रमण कर सकें। सबसे पहले उन्होंने चरितनायक कृष्ण को सहज लोकभूमि पर अवतरित किया ताकि वे सामान्यजन से समरस हो सकें। यहाँ देवत्व पृष्ठभूमि में है, और बीच-बीच में उसके संकेत भी हैं, वह उपदेशक वृत्ति से बाह्यारोपित नहीं है। यहाँ सब कुछ व्यापक संवेदन-संसार का अंश है, जिसमें ब्रज संस्कृति प्रमुखता प्राप्त करती है, जिसका प्रतिनिधित्व सामान्यजन करते हैं जैसे कृषक-चरवाहा आदि।

कृष्ण भक्तिकाव्य पर प्राय: इस ढंग से विचार होता रहा है कि इनमें किसी दर्शन-पंथ विशेष का प्रतिफलन किस रूप में हुआ है। इस संदर्भ में वल्लभ सम्प्रदाय के कृष्ण के बाल-किशोर रसिक रूप, अष्टयाम पदगायन आदि की परंपरा का उल्लेख किया जाता है। पर हमारा ध्यान इस ओर भी जाना चाहिए कि आखिर कृष्ण के बाल रूप के आग्रह के मूल में कवि का क्या उद्देश्य हो सकता है? इस प्रश्न पर पंथ से थोड़ा हटकर विचार करना होगा। मध्यकाल का जो विलासी सामंती समाज है, उसे देखते हुए कृष्ण का सहज बाल-किशोर रूप इस ओर संकेत करता है कि जिसे हम सौंदर्य कहते हैं वह शरीर-सीमित नहीं है, उसकी कई उच्च इकाइयाँ हैं, जिनमें गुण, मूल्य, कर्म का सौंदर्य है। इसलिए भक्तिकाव्य में रूप, छवि आदि शब्दों का प्रयोग बहुलता से होता है। कृष्ण के बाल रूप पर ग्वाल-समाज का मुग्ध होना, एक प्रकार से सामाजीकृत होने की प्रक्रिया है। नन्द के घर बेटा जन्मा है तो संपूर्ण ब्रजमंडल उस उत्सव में सम्मिलित है :

आज बन कौउ वै जनि जाइ।
सब गाइन बछरनि समेत, ले आनहु चित्र बनाइ।
ढोटा है रे भयौ महर के, कहत सुनाइ-सुनाइ।
सबहि घोष में भयो कुलाहल, आनंद उरन समाइ।

कृष्ण भक्तिकाव्य में रसिक रेखाओं की कमी नहीं है और कई प्रसंगों में उसमें ऐसा खुलापन भी है कि प्रचलित रूढ़ नैतिकता से उसकी संगति बिठा पाना संभव नहीं है। भागवत बार -बार कृष्ण के देवत्व का संकेत करता चलता है, पर कविता में इस प्रकार के बाह्यारोपण से संवेदनशीलता का क्षरण होता है। कृष्ण भक्तिकाव्य में सामंती सीमाओं का निषेध सर्वाधिक इस रूप में है कि यहाँ सब कुछ प्रकृति के विराट मंच पर घटित होता है। एक प्रकार से वह कृष्ण के व्यक्तित्व को नई दीप्ति देता है। कविता को राजभवन की सामंती सीमाओं से बाहर ले आना, ऐसा प्रयत्न है कि हमारा ध्यान इस ओर जाना चाहिए।

8.3.4 लोक और शास्त्र

कृष्ण भक्तिकाव्य के संदर्भ में प्राय: लोक और शास्त्र का प्रश्न उठाया जाता है, जो दूसरे रूप में अन्य रचनाओं में भी मौजूद है। शास्त्र कई धरातलों पर है, जिनमें प्रमुख है भक्ति चिंतन की वह लंबी परंपरा, जिसका संकेत हम पहले कर चुके हैं। इसके साथ पांडित्य शास्त्र की परंपरा भी है। भागवत प्रस्थान ग्रंथ है, पर रचना दर्शन-विचार का अनुवाद नहीं होती। कवि दृष्टि-विचारधारा के रूप में उसका उपयोग करते हैं, पर वहाँ पुस्तकीय ज्ञान का अतिक्रमण होता है। जीवन से संबद्ध होकर ही रचना विश्वसनीय बनती है, मार्मिकता पाती है। इसलिए कबीर ने प्रेम के ढाई आखर का आग्रह किया। भक्ति का विवेचन भाष्य, टीका के रूप में तो है ही, उसे शांत रस से अलगाकर दशम रस बनाने का प्रयत्न भी किया गया है। नवधा भक्ति की चर्चा प्राय: सभी कवियों ने की है, पर कृष्ण भक्तिकाव्य कृष्ण को अपना बहुत समीपी मानता है। यहाँ जिसे सख्यभाव कहा गया है उसमें विनय-समर्पण का दास्यभाव भी सम्मिलित है। सूर के विनय पद इसका प्रमाण हैं: "चरन-कमल बंदौ हरिराई; स्याम गरीबनि हूँ के गाहक; दयानिधि तेरी गति लखि न परे" आदि। ध्यान दें तो ईश्वर के प्रति यह विनय-रागभाग भ्रमरगीत में अपनी पूर्णता पर पहुँचता है और गोपिकाएँ इसका माध्यम बनती हैं।

उपास्य और उपासक की समीपता से कई मध्यस्थ अप्रासंगिक हो जाते हैं क्योंकि यहाँ दोनों के मध्य सीधा संवाद स्थापित होता है। कृष्ण भक्तिकाव्य में उपास्य का बोध कराने वाला गुरु उतना स्थान भी नहीं प्राप्त करता, जितना कि रामकाव्य में। तुलसी ने रामचरितमानस के आरंभ में ही इसका संकेत किया है: **''श्रीगुरु पद नख मनि गन जोती, सुमिरत दिव्य दृष्टि हियं होती''**। निर्गुण भक्तिकाव्य में तो गुरु गोविन्द से भी बढ़कर है, वह ज्ञान-माध्यम है, जो चरम सत्य का उद्घाटन करता है। कृष्णभक्ति काव्य में सीधे संवाद से एक ऐसा रागमय वातावरण उपजता है, जहाँ शास्त्र का स्थान लोक को मिलता है। कर्मकांड, पुरोहितवाद की सीमाओं को तोड़ते हुए कृष्ण भक्तिकाव्य नई आचार-संहिता निर्मित करता है। यहाँ रागानुगाभक्ति ही सर्वोपरि है, शेष इसी में समा जाता है। गोपिकाएँ कृष्णार्पित हैं, यही उनका सुख है, यही उनका प्राप्य।

8.3.5 लोक छवि और दृश्य

काव्य में लोक की उपस्थिति कृष्ण भक्तिकाव्य का सबसे उल्लेखनीय पक्ष है और इसकी चर्चा इसलिए भी आवश्यक है कि प्राय: सगुण की तुलना में निर्गुण काव्य को अधिक प्रगतिशील कहा जाता है, तथा प्रचलित धारणा यह है कि कृष्णकाव्य, अन्य की तुलना में लगभग यथार्थ-विरहित है। पर क्या यह संभव है कि एक ही समय में सक्रिय समर्थ स्वर अपनी प्रकृति में इतने भिन्न हों कि एक में यथार्थ हो और दूसरे में वह पूर्णतया अनुपस्थित? लोक और शास्त्र की चर्चा करते हुए कृष्ण भक्तिकाव्य हमें कुछ ऐसे सूत्र देता है कि हम यह जान सकते हैं कि यथार्थ के प्रति दृष्टि का अंतर तो है ही, उसकी अभिव्यक्ति की विधियाँ भी अलग-अलग हो सकती हैं। तुलसी की प्रबंधात्मकता में कलिकाल के माध्यम से मध्यकालीन यथार्थ वर्णन की सुविधा है। कबीर का स्वर जुझारू है। पर ध्यान दें तो कृष्ण भक्तिकाव्य और सूफ़ी कवि जायसी आदि ने उस लोक की सहज रसमयता को केंद्रीयता दी, जिसमें वे उपस्थित थे। कृष्ण भक्तिकाव्य का लीला-संसार ब्रजमंडल से अधिक संबद्ध है और लगता है जैसे वहाँ की लोकछवि अपनी पूरा रंगमयता में यहाँ उपस्थित है। गोकुल-वृन्दावन अपनी पूरी शोभा के साथ यहाँ स्थान पाते हैं। यमुना तो जैसे कृष्णलीला का परम साक्ष्य है। कृष्ण का जन्म, दधि-माखन चोरी, वृंदावन विहार के साथ ब्रज के अनेक और लोकोत्सव यहाँ स्थान पाते हैं। नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ से लेकर उन सभी सामाजिक उत्सवों तक जिसमें पूरा गोकुल सम्मिलित है। दृश्यों का यह सामाजीकरण ऐसी विशेषता है जिसने अपनी रागमयता से रसखान जैसे कवि को आकृष्ट किया : **'मानुष हौ तो वहै रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।'** उत्सव के क्षणों में ग्वाल-गोपी सब कृष्ण को केंद्र में रखकर उल्लसित होते हैं, जैसे सूर में फाग के दृश्य:

> "वृन्दावन खेलत हरि होरी।
> बाजत ताल मृदंग झांझ डफ नंदलला वृषभानु किसोरी''

मांगलिक अवसरों पर वंदनवार, चौक, कलश आदि की व्यवस्था भी दृष्टिगत होती है। वसन्त-फागुन के दृश्य कृष्णकाव्य में बहुलता से मिलते हैं क्योंकि यहाँ रागमयता के लिए खुला अवसर है। यहाँ शास्त्र पृष्ठभूमि में चला जाता है और लोक प्रमुखता प्राप्त करता है। यों भी रचना में शास्त्र पूरे संवेदन-संसार में इस प्रकार विलयित हो जाता है कि उसकी तलाश का अधिक अर्थ नहीं रह जाता है। निश्चित है कि रामकाव्य की तुलना में कृष्णकाव्य में शास्त्र की अपेक्षा लोक की स्वीकृति कहीं अधिक है क्योंकि कृष्णकाव्य अधिक उन्मुक्त भूमि पर संचरित होता है। रास, महारास में इसे देखा जा सकता है, जहाँ रागभाव अपने चरम पर पहुँचता है और प्रेम के माध्यम से ही भक्ति का प्रतिपादन होता है।

8.3.6 रंजक और रक्षक रूप

कृष्ण भक्तिकाव्य के संदर्भ में अरसे तक यह कहा जाता रहा है कि राम का जन्म लोकरक्षक का है और कृष्ण का लोकरंजन का। रचना में इस प्रकार का विभाजन एक सीमा तक ही उपयोगी हो सकता है, विशेषतया भक्तिकाव्य के संदर्भ में। कवियों की राग-दृष्टि ने अपना ध्यान गोकुल-वृन्दावन तक केंद्रित रखा और कृष्ण का महाभारत रूप, पृष्ठभूमि में चला गया। कृष्ण भक्तिकाव्य में वर्णनात्मक ढंग से महाभारत के कुछ प्रसंगों का उल्लेख कर दिया गया है, पर कवियों की रुचि उसमें रमती नहीं प्रतीत होती। वास्तविकता यह है कि कृष्ण के बाल-किशोर जीवन की जो चमत्कारी घटनाएँ वर्णित हुई हैं, उनमें भी कवि उस संलग्नता के साथ उपस्थित नहीं है, जिसके लिए बाल-लीलाओं का उल्लेख किया जाता है। लोकरंजन से ही कृष्णभक्त कवि अपनी अभीप्सा की पूर्ति करना चाहते हैं, कृष्ण की भक्ति ही उनका प्रमुख प्रयोजन है। पूतना वध,

कालीदह से लेकर मथुरा-प्रसंग तक कृष्ण के वीरत्व के जो कार्य हैं, वे प्रमुखता नहीं प्राप्त करते, जबकि कृष्ण की अन्य लीलाएँ कृष्ण भक्तिकाव्य में विस्तार से आई हैं। यहाँ कृष्णगाथा के एक प्रसंग का उल्लेख विशेष रूप से करना होगा। सूरसागर के दशम स्कंध में गोवर्धन प्रसंग विस्तार से आया है - लगभग पौने दो सौ पदों में और इसी के अनन्तर रासपंचाध्यायी का आरंभ होता है। भारत मूलत: कृषि-समाज है और इन्द्र-पूजन की परंपरा यहाँ पर्याप्त प्राचीन है। ब्रजमंडल में इन्हें कुलदेव माना गया और इनके पूजन की आदरपूर्ण व्यवस्था थी। पर कृष्ण इस प्रचलित परंपरा को चुनौती देते हैं और कहते हैं कि अगोचर इन्द्र की पूजा व्यर्थ है। वे कहते हैं कि सामने के गोवर्धन पर्वत का पूजन करो और गोकुलवासी पूरी संलग्नता से इसे सम्पन्न करते हैं:

छांड़ि देहु सुरपति की पूजा।
कान्ह कह्यो गिरि गोवर्धन तैं और देव नहिं दूजा।
गोपनि सत्य मानि यह लीन्हीं, बड़ौ देव गिरिराज।
मोहिं छाड़िये परबत पूजत, गरब कियो सुरराज।
पर्वन सहित धोइ ब्रज डारौं, देउं समुद्र बहाइ।
मेरी बलि और हिलै अरपत, इनकी करो सजाइ।
राखो नहीं इन्हें भूतल पर, गोकुल देउं बुड़ाइ।
सूरदास-प्रभु जाको रच्छक, संगहि संग रहाइ।

इन्द्र का क्रोध स्वाभाविक है क्योंकि उनके वर्चस्व को चुनौती दी गई है, उनके स्थान पर गोवर्धन पर्वत को कुलदेव रूप में स्वीकारा गया है। इन्द्र सुरपति हैं - देवेन्द्र, उनका अहंकार आहत होता है और वे गोकुल को जलवृष्टि में डुबो देते हैं। यह कृष्ण के व्यक्तित्व की परीक्षा का क्षण है, जिसमें वे स्वयं को सामाजिक रक्षक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। गोकुल को अपने कृष्ण पर विश्वास है कि वे ही उनकी रक्षा कर सकते हैं। यहाँ इन्द्र और कृष्ण आमने-सामने हैं। कृष्ण गोवर्धन पर्वत उठा लेते हैं और गोकुल की रक्षा करते हैं। इन्द्र की पराजय, जिसमें वे कृष्ण के समक्ष शरणागत होते हैं, कई संकेतों से सम्पन्न है। यह प्रकारान्तर से अगोचर इन्द्र की तुलना में सामने विद्यमान गोवर्धन पर्वत के महत्व की स्वीकृति है। इस घटना में चमत्कार ही सही, पर कृष्ण का व्यक्तित्व यहाँ स्थापित होता है :

"घरनि-घरनि ब्रज होत बधाई।
सात बरष को कुंवर कन्हैया, गिरिवर धरि जीत्यो सुरराई।
गर्व सहित आयो ब्रज बोरन, यह कहि मेरी भक्ति घटाई।
सात दिवस जल बरषि सिरान्यौ, तब आयो पाहन तर धाई।
सूर स्याम अब कैं ब्रज राख्यो, ग्वाल करत सब नंद दौहाई।

8.4 सगुण भक्ति

कृष्ण भक्तिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों पर विचार करते हुए हमें यह ध्यान रखना होगा कि कवियों की अपनी दृष्टि के अनुसार आग्रहों में आंशिक परिवर्तन देखे जा सकते हैं, पर समानता के सूत्र अधिक हैं। कृष्ण का मानुषीकरण लीलाओं के माध्यम से व्यक्त हुआ है, और वह भी अपनी पूरी रसमयता में। यहाँ आग्रह माधुर्य भाव पर है और कृष्ण अपनी रसिक छवि में अद्वितीय हैं। कृष्णकाव्य एक प्रकार से सगुणोपासना का आग्रह इस सीमा तक करता है कि निर्गुण की अस्वीकृति के उसके अपने तर्क हैं। व्यापक दृष्टि से विचार करें तो साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण की अपनी धारणाएँ हैं। मध्यकाल में कर्मकांड-पुरोहितवाद जिस ढंग से विकृत हो रहे थे और समाज में आडम्बर, मिथ्याचार आदि का प्रचार था, उससे मुक्ति का उपाय खोजते हुए, विचारक निर्गुण-निराकार का आग्रह करते हैं। मूर्ति को केंद्र में रखकर कर्मकांड उपजता है और कई प्रकार के संघर्ष भी होते हैं। इसलिए निर्गुणियों का आग्रह ज्ञान पर है : संतों भाई आई ज्ञान की आँधी। ज्ञान से विकार का नाश होता है। पर सगुण मतावलम्बियों, विशेषतया कृष्ण भक्तिकाव्य के अपने तर्क हैं। उनका कहना है कि मन यों ही चंचल है, उसे स्थिर एकाग्र करने के लिए कोई आश्रय चाहिए। निर्गुण ज्ञानमार्गियों के लिए तो संभव है, पर सामान्यजन के लिए तो साकार-सगुण ही गम्य है, सहज है। इस विषय में सूरदास का तर्क यही है कि जो वर्णनातीत है, उसका साक्षात्कार कैसे हो। इसके लिए आकार-प्रकार चाहिए :

"अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौ गूंगै मीठे फल कौं रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौ अगम-अगोचर, सो जाने जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कत धावै।
सब बिधि अगम बिचार हिं तातै सूर सगुन पद गावै।''

सूर का तर्क यही है कि निराकार को लेकर ध्यानावस्थ कैसे हुआ जाए। इसलिए कृष्ण भक्तकवियों ने कृष्ण का पूरा लीला-संसार रचा, जिसमें उन्होंने मिथकीय संसार और निजधारी कथाओं का भी उपयोग किया। अपनी कल्पनाशीलता से उसे एक ऐसा स्वरूप दिया कि सब समरस हो सकें। कृष्ण की लीलाओं के साथ यात्रा करता हुआ समाज यह भूल जाता है कि कृष्ण अवतारी पुरुष हैं, अलौकिक गुण-सम्पन्न। कई बार हम उनकी चमत्कारी लीलाओं से आश्चर्यचकित तो होते हैं पर भागवत की तरह कृष्ण के देवत्व का स्मरण कराना, कृष्णभक्त कवि आवश्यक नहीं समझते। उनका लक्ष्य है, कृष्ण की लीलाओं के माध्यम से ही उनके बहुरंगी व्यक्तित्व का बोध कराना।

8.4.1 भ्रमरगीत-प्रसंग

कृष्ण भक्तिकाव्य में भ्रमरगीत प्रसंग का विशेष महत्व है, जिसका उल्लेख भागवत में मिलता है और अधिकांश कवियों ने इसका उपयोग किया है। सूरदास ने **सूरसागर** के दशम स्कंध में विस्तार से इसका वर्णन किया है। परमानन्ददास के **परमानन्दसागर** में भी इससे संबद्ध पद हैं पर वास्तविकता यह है कि यहाँ भागवत कथा का **अनुसरण नहीं** किया गया है तथा कृष्ण के मथुरा-गमन से लेकर भ्रमरगीत प्रसंग तक को प्रमुखता मिली है। नन्ददास ने **भंवरगीत** नाम से भ्रमरगीत प्रसंग को लेकर स्वतंत्र रचना की। यह परंपरा आधुनिक समय में जगन्नाथदास रत्नाकर तथा डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के **'उद्धवशतक'** में देखी जा सकती है। भ्रमरगीत में कृष्ण भक्तकवियों ने गोपिकाओं के प्रगाढ़ प्रेमभाव को व्यक्त किया है और इसे विप्रलंभ शृंगार के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। ज्ञान-गर्व-परिचालित उद्धव, गोपिकाओं को निर्गुण-निराकार की शिक्षा देकर कृष्ण से उनका ध्यान हटाना चाहते हैं। पर वे अनेक रूपों में कृष्ण का स्मरण करती हुई, उन्हें अपना सर्वस्व मानती हैं। निर्गुण को अस्वीकारते हुए वे भावनामय तर्क देती हैं, जिन्हें सही मायने में तर्क भी नहीं कहा जा सकता : **निर्गुण कौन देस कौ वासी, मधुकर हांसि समुझाइ सौंह दे, बूझत बात न हांसी।** बहुत विस्तार से वे कृष्ण के प्रति अपनी गहरी रागात्मकता व्यक्त करती हैं: **''हमारे हरि हारिल की लकड़ी।''** कृष्ण का स्मरण करते हुए वे निरंतर अश्रुपूरित हैं : **''निसि दिन बरसत नैन हमारे।''** जैसे भी हो वे कृष्ण का दर्शन चाहती हैं, उसी रूप में जिसमें वे गोकुल-वृन्दावन में विचरे थे। गोपिकाओं की राजा कृष्ण में कोई रुचि नहीं, उन्हें लीलाधारी कृष्ण चाहिए : **उर में माखन चोर गड़े।** भ्रमरगीत गोपिकाओं के प्रेमभाव की मार्मिक अभिव्यक्ति है।

कृष्ण भक्तिकाव्य ने भावनाश्रित तर्क के सहारे सगुण को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया और इसके लिए भ्रमरगीत प्रसंग का उपयोग किया। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र इसे 'सगुण का मंडन और निर्गुण का खंडन' कहते हैं। पर थोड़ा गहराई से विचार करें तो इस प्रसंग की अन्य ध्वनियाँ भी हैं जो कृष्ण भक्तिकाव्य को वैशिष्ट्य देती हैं। यहाँ नन्द-यशोदा का वात्सल्य भाव भी है, जिनके लिए कृष्ण संपूर्ण आधार हैं। विचारणीय यह है कि कृष्ण देवकी-वासुदेव का बेटा है, नन्द-यशोदा ने केवल उनका पालन-पोषण किया है। पर वात्सल्य उन्हीं का वर्णित है : "संदेसो देवकी सौं कहियो, हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियौ।'' गोपिकाओं का प्रेम भ्रमरगीत प्रसंग में परीक्षित होता है और वे अडिग हैं। ऊधो से कहती हैं, अच्छा हुआ तुम आ गए, प्रेम की परीक्षा हो गई, वह और प्रगाढ़ हो गया। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि भ्रमरगीत के माध्यम से कवि मध्यकाल के ग्राम-नगर द्वंद्व का संकेत भी करते हैं। सूर की गोपिकाएँ मथुरा को काजरि की कोठरी कहती हैं, जो आता है 'काला मन' है। कुब्जा को वे नागरी कहकर व्यंग्य करती हैं और स्वयं को भोली-भाली मानती हैं, जो ठगी गईं। भ्रमरगीत प्रसंग में ऊपर से देखने पर एक पक्षीय प्रेम जैसा प्रतीत होता हैं पर यहाँ गोपिकाओं की अनन्य भावना के साथ कृष्ण के बृहत्तर दायित्व-बोध का संकेत भी मिलता है। भ्रमरगीत के अंत में कृष्ण गोपिकाओं के प्रेमभाव को स्वीकारते हैं :

"उधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस सुता की सुंदर कगरी, अरु कुंजन की छाहीं।
वे सुरभी वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं।
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरत आवति वा सुख की जिय उमगत तन नाहीं।
अनगन भांति करी बहु लीला, जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे कौन ह्वै यह कहि-कहि पछिताहीं।

8.4.2 कृष्ण लीला

कृष्ण भक्तिकाव्य में कृष्ण का लीला रूप प्रधान है जो जीवों के सुख के लिए है और जिसमें कृष्ण स्वयं दुहरी-तिहरी भूमिका में हैं। बाहर से देखने पर वे संलग्न लीलाभूमि पर हैं, जिसमें रासलीला का घनिष्ठ प्रकरण भी है। पर किसी बिंदु पर वे तटस्थ भी हैं, इसलिए रस के अवसर पर अंतर्धान हो जाते हैं। कृष्णलीला में माखन-चोरी, वृन्दावनलीला, रास आदि की प्रमुख भूमिका है जहाँ कृष्ण मानुष-रूप में संचरित हैं। प्रसंग रूप-माधुरी से आरंभ होता है, पर क्रमशः उसमें गुणों का संयोजन होता है। मिथकीय, निजन्धरी कथाओं के चमत्कार एक ओर हैं, पर कृष्ण की मुरली उनके व्यक्तित्व को नई दीप्ति देती है। कृष्ण-लीला के विस्तार में इसका योगदान सर्वोपरि है। मुरली वशीकरण है, जब कृष्ण वंशी-वादन करते हैं, तब गोपिकाएँ मर्यादाओं का निषेध करती हुई, उन तक पहुँच जाती हैं : **"जब मोहन मुरली अधर धरी, गृह व्योहार थके आरज पथ तजत न संक करी।"** कवियों ने मुरली के व्यापक प्रभाव का वर्णन किया है : **"जब हरि मुरली अधर धरत, थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहें, जमुना जल न बहत"** आदि। रूप के साथ गुण का यह संयोजन कृष्ण को वैशिष्ट्य देता है। मुरली-प्रसंग के अनेक पद कृष्ण भक्तिकाव्य में आए हैं।

कृष्ण-लीला में स्वकीया-परकीया जैसे प्रश्न उठाए जाते रहे हैं जो आज बहुत प्रासांगिक नहीं हैं। राधा के प्रसंग में यह चर्चा पर्याप्त विवाद उपजाती रही है। राधा विशिष्ट गोपी है उसे रासेश्वरी रूप में चित्रित किया गया है, कृष्ण के समतुल्य। राधा अपरूप रूप है, जिसका बखान जयदेव, विद्यापति आदि ने भी किया है। कृष्णभक्त कवियों को राधा के प्रसंग में एक साथ कई भूमिकाओं का निर्वाह करना है। वल्लभ सम्प्रदाय में राधा कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है और कृष्ण में संयोजित है। राधा-कृष्ण का प्रेम बालजीवन, किशोरावस्था के निश्छल समय में अंकुरित-विकसित होता है। उसे 'बालापन की छोरी' कहा गया जो अपने रूप में अद्वितीय है, रूप की सीमा है, जिससे उपमान पराजित हैं, **'लोक चतुर्दस नीरस लागत, तू रसरासि रची'**। राधा परम निर्मल नारि है, निश्छल प्रेम की प्रतिमा। सौंदर्य ऐसा कि **'चुंवतहि चुवत सुधारस मानो रह गई बूंद मंझार'**। इसलिए राधा महाभाव है - प्रेम का सर्वोपरि प्रतीक। जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो गोपिकाएँ अपनी व्यथा ऊधो से कह देती हैं, उपालम्भ रूप में ही सही। पर राधा प्रायः मौन हैं, कृष्ण के प्रति संपूर्ण भाव से समर्पित। ऊधो कृष्ण से कहते हैं : "तुम्हारे बिरह ब्रजनाथ राधिका नैननि नही बढ़ी/लीन्हें जात निमेष कूल दोउ एते मान चढ़ी।" भ्रमरगीत प्रसंग में सूर राधा की पीड़ा को गहराई से महसूस करते और व्यक्त करते हैं :

"अति मलीन वृषभानु कुमारी, हरि स्रमजल अन्तरतम भीजै, तेहि लालचि न धुवावति सारी।"

उसकी स्थिति यह है कि ज्यों गथ हारे थकित जुआरी 'अथवा' ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।' राधा अपने व्यक्तित्व में कृष्ण की समकक्षता प्राप्त करती है, पूज्य बनती है।

8.4.3 वात्सल्य और शृंगार

कृष्ण भक्तिकाव्य के संवेदन-संसार की निश्चित रेखाएँ हैं और गीत काव्य उसका प्रिय माध्यम है। वात्सल्य और शृंगार उसकी दो प्रमुख भूमियाँ हैं और निर्विवाद है कि जहाँ तक वात्सल्य का प्रश्न है कृष्णकाव्य विश्व की रचनाशीलता में प्रमुख स्थान का अधिकारी है। प्रयोजन है कृष्ण की बाल-लीलाओं के माध्यम से सहज

सौंदर्य को उद्घाटित करना, जिससे सब आकृष्ट होते हैं। बाल छवि का निरपेक्ष वर्णन यहाँ कवियों का अभिप्राय नहीं है, इसमें उनकी अनेक लीलाएँ सम्मिलित हैं। नन्द-यशोदा के साथ गोकुल के ग्वाल-बाल, गोपियाँ सब इस सुख में निमग्न हैं। बार-बार कहा गया है कि इस सुख के समक्ष त्रैलोक्य का वैभव व्यर्थ है। यह गतिशील चित्र है, जहाँ बालक कृष्ण के जन्म से लेकर किशोर होने तक के दृश्य हैं : "घुटुरन चलत रेणु तन मंडित, मुख दधि-लेप किए' से माखन लीला तक के प्रसंग, कृष्ण के क्रमशः बढ़ते, बड़े होने की सूचना देते हैं। उल्लेखनीय यह है कि कृष्ण की बाल-लीलाएँ सर्वत्र फैल जाती हैं और उन्हें शोभा-सागर कहा गया है : "सोभा सिंधु न अंत रही री, नंद भवन भरि पूरि उमंगि चलि ब्रज की बीथिन फिरत बही री।" माखन-लीला और मुरली-वादन के प्रसंग कृष्ण के मनोहारी रूप को नया विस्तार देते हैं, जिससे प्रेमांकुर विकास पाता है।

श्रृंगार-भाव को लेकर प्रश्न यह है कि कृष्ण भक्तिकाव्य का प्रयोजन क्या है? रामकाव्य में शील-मर्यादा की रेखाएँ श्रृंगार-भाव की सीमाएँ निश्चित कर देती हैं, पर कृष्णकाव्य अधिक खुली भूमि पर है। श्रृंगार से जो रागभाव जन्म लेता और विकास पाता है, वही भक्ति के चरम बिंदु तक जाता है, जिसे भावनामय भक्ति कहा गया, रागानुगा माधुर्य भक्ति। कृष्णभक्तों का कृष्ण के प्रति संपूर्ण समर्पण प्रचलित प्रपत्ति दर्शन का मधुरतम रूप है, जहाँ भक्त अपने उपास्य की रूप-माधुरी को ही अपना प्राप्य मानता है। इस श्रृंगार में जो जीवन सम्पृक्ति अथवा लोकपक्ष है, वही उच्चतम धरातल पर भक्ति है। इसलिए कृष्ण भक्तिकाव्य के श्रृंगार भाव की सही पहचान के लिए समझदारी की आवश्यकता है। कृष्ण भक्ति काव्य का अध्ययन करने पर आप पाएँगे कि कई स्थल हैं, जिन्हें कवियों ने उन्मुक्त भाव से व्यक्त किया है, अकुंठित भाव से, जिनमें घनिष्ठ मिलन चित्र हैं। पर मुख्य प्रश्न यह है कि कवि का प्रयोजन क्या है, वह पहुँचना कहाँ चाहता है। यहीं भक्तिकाव्य और परवर्ती रीतिकालीन श्रृंगार का अंतर स्पष्ट हो जाता है। भक्ति में श्रृंगार देह का अतिक्रमण करने की सामर्थ्य रखता है, उच्च स्तर पर आता है, पर रीतिकाल में वह देहवाद में बंदी होकर रह जाता है। कहा भी गया है कि वहाँ राधा-कृष्ण स्मरण का बहाना बन गए। उच्चतम भूमि से वे नायक-नायिका में घटित हो गए। पनघट, चीरहरण, दान आदि लीलाओं को लें तो गोपिकाएँ इस समर्पण में सुख मानती है। जिस श्रृंगार को वे मुग्धभाव से निहारती हैं, जिसके साथ वे संचरित होती हैं, उसी के प्रति संपूर्ण राग-भाव से अर्पित होती हैं।

8.6 अष्टछाप

कृष्ण भक्त कवियों में अष्टछाप का विशेष उल्लेख किया जाता है। वल्लभाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवादी पुष्टिमार्ग की स्थापना की थी। आगे चलकर बिट्ठलनाथ ने अष्टछाप कवियों की परिकल्पना की, जिन्हें कृष्णसखा भी कहा गया। इनमें चार वल्लभाचार्य के शिष्य हैं : **सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास** और **कृष्णदास।** बिट्ठलनाथ के शिष्य हैं : **नन्ददास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी** और **चतुर्भुजदास**। वल्लभ सम्प्रदाय में अष्टछाप कवियों का विशेष स्थान है और कहा जाता है कि जब गोवर्धन में श्रीनाथ की प्रतिष्ठा हो गई, तब ये भक्तकवि अष्टछाप सेवा में संलग्न रहते थे - मंगलाचरण-श्रृंगार से लेकर सन्ध्या आरती और शयन तक। अष्टछाप के इन कवियों में सूरदास सर्वोपरि हैं जिन्हें भक्तिकाव्य में तुलसी के समकक्ष माना जाता है। तुलसीदास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रिय कवि हैं, पर उन्होंने भी स्वीकार किया है कि माधुर्य भाव में 'सूरसागर' रससागर है और जहाँ तक वात्सल्य तथा श्रृंगार का प्रश्न है, सूर सर्वोपरि हैं। अष्टछाप के कवियों में परमानन्ददास ने कृष्ण की बाललीला को लेकर अपना ध्यान केंद्रित किया और माधुर्य गुण को प्रमुखता दी। नन्ददास पंडित कवि हैं और उनके भंवरगीत में शास्त्र ज्ञान का परिचय मिलता है। उन्हें अलंकृत अथवा 'जड़िया कवि' कहकर संबोधित किया गया। उनमें काव्य की सहजता अपनी पूर्णता पर नहीं आने पाती, पांडित्य बाधा बनता है। कुंभनदास की उक्ति प्रसिद्ध है:

> "संतन को कहा सीकरी सो काम"
> आवत जात पन्हैया टूटी बिसरी गयो हरिनाम।"

यह उक्ति कवि के उस विराग भाव की ओर संकेत करती है, जिसमें राजाश्रय का निषेध है।

8.7 शिल्प विधान

कृष्ण भक्तिकाव्य का शिल्प विधान इस दृष्टि से विचारणीय है कि प्रमुख पद मंदिरों में गायन-परंपरा का अंग बन गए और इस प्रकार व्यापक प्रचार-प्रसार पा गए। उन्हें राग-रागिनियों में बाँधा गया और एक ओर वे शास्त्रीय गायन में स्वीकृत हुए, दूसरी ओर लोकगायन में प्रचलित हुए। कृष्ण भक्तिकाव्य का यह दुर्लभ पक्ष है कि अपने माधुर्य गुण के कारण उसे व्यापक स्वीकृति मिली। यों तो लगभग सभी भाषाओं के भक्ति-काव्य के भजन-गायन की व्यवस्था रही है - दिव्यप्रबंधम से लेकर मीरा के पदों तक। चैतन्य महाप्रभु, चण्डीदास आदि ने प्रार्थना-कीर्तन भाव से भक्ति को व्यापकता दी और असम में शंकरदेव ने उसे विस्तार दिया। गुरु नानक के सबद गाए जाते हैं। भक्ति संगीत नाम से मध्यकाल में जिस राग-रागिनीबद्ध संगीत की परिकल्पना की गई, वह आधुनिक समय में भी जीवित है। शास्त्र और लोक का ऐसा संयोजन भक्तिकाव्य में प्राप्त होता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। कृष्ण भक्तिकाव्य मूलत: पदगायन-परंपरा पर आधारित है और इसे मुक्तक प्रधान काव्य कहा जाता है। आख्यान काव्य से इसकी परंपरा पृथक है। यहाँ कथा का संकेत तो मिलता है, पर उनमें क्रम-स्थापना का बरबस प्रयत्न नहीं है। यदि हम सूरसागर को ही लें तो देखते हैं कि आगे चलकर शिष्यों ने लीलाओं के आधार पर इसे वर्गीकृत किया जिसका आरंभ विनय के पदों से होता है और बाललीला से अवतार तक जिसकी व्याप्ति है। चित्र, संगीत, नृत्य आदि में इसके शृंगार भाव का उपयोग हुआ।

कृष्ण भक्तिकाव्य मुख्यतया गीत सृष्टि है और गेयता इसका सराहनीय गुण है। गीतिकाव्य की लंबी परंपरा में कृष्ण भक्तिकाव्य को लीला पदों की सुविधा है, जहाँ माधुर्य भाव की प्रधानता की सहायता से भाव-संचार हो सका है। ब्रजभाषा का लालित्य यहाँ पूर्णता पर पहुँचता है और संगीतमयता उसमें सहज भाव से आ जाती है। गीत भावाश्रित माध्यम है, जहाँ भावनामयता प्रधान एवं महत्वपूर्ण है। प्रासंगिक बात यह है कि भ्रमरगीत प्रसंग में गोपिकाओं के भाव-संसार में सूरदास स्वयं भी सम्मिलित हैं, इसलिए पूरे प्रकरण को मार्मिकता मिल सकी है। वियोग के साथ यहाँ भक्तिभावना भी संयोजित है - एकाग्र भाव से। कृष्णभक्त कवि की भावप्रवणता गीतसृष्टि का प्रस्थान है और एक पद में एक भाव-विशेष को संग्रथित किया गया है। भाव बिखरने नहीं पाते और अभिव्यक्ति अपने प्रयोजन में सफलता प्राप्त करती है। विनय पदों से लेकर कृष्ण के लीला पदों तक इस संग्रंथन को देखा जा सकता है। जहाँ प्रसंग वर्णनात्मक ढंग से आए हैं, वहाँ कोई विशेषता कथन में नहीं है, जैसे कथाक्रम स्थापन का औपचारिक प्रयत्न हो। पर जब किसी भाव-प्रसंग को उजागर किया जाता है, तब कवियों की संलग्न तन्मयता उच्चतम धरातल प्राप्त करती है। कवियों ने अपनी गीतमयता की व्याप्ति के लिए लोकधुनों तक का प्रयोग किया और यहाँ लोकगीत मूल काव्यधारा में संयोजित हुए हैं।

8.7.1 भाषा

भक्तिकाव्य के सफल निर्वाह के लिए जिस संवेदन सम्पन्न, मधुर, लयात्मक भाषा की अपेक्षा होती है, उसके लिए ब्रजभाषा समर्थ है और कृष्ण भक्तकवियों ने उसका सक्षम उपयोग किया। यहाँ भाषा का वह रूप है जो लोकप्रचलित है और जिसे कवियों ने काव्योपयोगी बनाया। यह कार्य कठिन है और सर्जनात्मक प्रतिभा की माँग करता है। भाषा एक प्रकार से लोकसम्पत्ति होती है जिसमें लोक स्वयं को अभिव्यक्ति देता है। इस दृष्टि से वह एक संस्कृति की वाहक भी होती है। कृष्ण भक्तिकाव्य ब्रज संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि कृष्ण के व्यक्तित्व का मुख्यांश उससे संबद्ध है और जिन्हें कृष्णभक्ति के अष्टछापी कवि कहा जाता है वे इससे जुड़े हुए हैं। सूर जैसे कवियों ने लोकभाषा ब्रजभाषा को वैसे ही काव्योपयोगी बनाया जैसे जायसी ने अवधी को। तुलसीदास में अवधी का स्वरूप किंचित भिन्न है, क्योंकि उस पर संस्कृत की छाया भी है। पर सूर जैसे कवि भाषा की वर्णनात्मकता को पार करते हैं क्योंकि गीत उनका प्रमुख माध्यम है। कृष्ण भक्तकवियों ने भाषा के मुहावरे को मुख्य रूप से जीवन संसक्ति से प्राप्त किया, पर ब्रज का परिवेश इस कार्य में उनकी सहायता करता है। इसलिए संस्कार, उत्सव सब यहाँ पूरी रसमयता में आए हैं। उल्लेखनीय यह है कि यहाँ प्रकृति की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं। वास्तविकता तो यह है कि लोकजीवन में प्रकृति भी सम्मिलित है, और जहाँ तक भाषा-सम्पदा का प्रश्न है, वह कविता को विशेष सम्पन्नता प्रदान करती है। इस प्रसंग में माखनलीला, वृन्दावन विहार, रासलीला आदि का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है, जहाँ प्रकृति के खुले मंच पर सब कुछ आयोजित होता है। प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों से कृष्ण

भक्तिकाव्य ने स्वयं को लोकसमीपी बनाया है। अभिव्यक्ति की सहजता यहाँ विशेष आकर्षण उत्पन्न करती है। मध्यकाल में प्रचलित फारसी-अरबी शब्द भी यहाँ आए हैं, पर वे काव्यभाषा की मुख्यधारा में प्रायः अन्तर्मुक्त हो गए हैं, बाहरी प्रतीत नहीं होते। सूरदास जैसे सिद्ध कवियों ने काव्यभाषा को इस ऊँचाई पर पहुँचा दिया कि वह बिम्ब, रूपक-निर्माण में सफल हो सकी। जिसे सांगरूपक अथवा संपूर्ण चित्र कहा गया, उसका निर्माण इस अर्थगामी भाषा के सहारे ही संभव था। 'अद्भुत एक अनूपम बाग' जैसे पद में यमुना के माध्यम से वियोग का संपूर्ण चित्र विचारणीय है। यहाँ प्रकृति के साथ मानव भावों का तादात्म्य है और जो दृश्य उपस्थित किया गया है, वह सामान्यजन का समीपी है :

"देखियत कालिंदी अति कारी।
अहै पथिक रहियो उन हरि सों, भई विरह जुरकारी।
गिरिप्रजंक तें गिरति धरनि धंस, तरंग तरफ तन भारी।
तट बारु उपचार चूर, जल पूर प्रस्वेद पनारी।
बिगलित कच कुस कांस कूल पर, पंक जु काजल सारी।
भौर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि दिसि दीन दुखारी।
निसि दिन चकई पिय जु रटति है भई मनौ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।''

8.7.2 कृषि-चरागाही संस्कृति

कृष्ण भक्तिकाव्य को कृषि-चरागाही संस्कृति के संदर्भ में रखकर देखना उपयोगी होगा क्योंकि इससे उसका लोक पक्ष सही ढंग से समझा जा सकता है। विश्व साहित्य में 'पैस्टोरल साहित्य' की चर्चा होती है, जिसका सबंध कई बार यायावरी घुमंतू जातियों से भी स्थापित किया जाता है। पर कृष्ण भक्तिकाव्य के मुख्य चरित्र-कृष्ण-राधा, नन्द-यशोदा, गोप-गोपी आदि ब्रजभूमि से संबद्ध हैं और गोकुल-वृन्दावन उसके प्रमुख लीला-स्थल हैं। कृष्ण के जीवन से जुड़ी मुख्य लीलाएँ कृषि-चरागाही संस्कृति का बोध कराती हैं। दूध, दधि, माखन, गो-चारण, वंशी-वादन, गायन-संगीत, उन्मुक्त लीलाएँ, रास आदि सब इसी के परिचायक हैं। तुलसी में कृषक-जीवन को प्रमुखता मिली है और कृष्ण भक्तिकाव्य में चरागाही जीवन की। गो-चारण को यहाँ विस्तार मिला है और उससे जुड़े अधिकांश प्रसंगों का उपयोग कवियों ने किया है। गोकुल-वृन्दावन यहाँ जैसे जीवित हो उठे हैं, अपने संस्कार और उत्सवों के साथ। कृष्ण के चले जाने पर गोपिकाएँ प्रश्न करती हैं : "मधुबन तुम कत रहत हरे, बिरह वियोग स्याम सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे।'' मेरा विचार है कि कृष्ण भक्तिकाव्य में उन्मुक्तता का एक कारण यह कृषि चरागाही संस्कृति भी है, जिसका उपयोग बहुलता से हुआ है। ग्राम का सरल, निश्छल जीवन यहाँ चरागाही संस्कृति के माध्यम से उभरता है। गोपियाँ कहती हैं कि 'हम अजान अति भोरी।' निर्गुण तो वहाँ खप सकता है जहाँ कुब्जा जैसी चतुर नागरिकाएँ हैं। कृष्ण भक्तिकाव्य में कृषि-चरागाही संस्कृति के माध्यम से उसका एक संपूर्ण लोक उभरा है, जो उसका वैशिष्ट्य है। माना कि यहाँ रागरंग की छवियाँ अधिक हैं, पर मध्यकालीन दैन्य के संकेत भी हैं, संक्षेप में ही सही। जैसे लंबा पद : "प्रभुजू यो कीन्ही हम खेती, बंजर भूमि गाउं हर जोते, अरु जैती की तैती।'' इसमें संदेह नहीं कि कृष्ण भक्तिकाव्य के संवेदन-संसार में कृषि-चरागाही संस्कृति सक्रिय भूमिका का निर्वाह करती है, यद्यपि उसकी उत्सव-छवियाँ ही अधिक हैं।

8.7.3 ललित कलाएँ

कलाओं का अन्तरावलम्बन रचनाशीलता को गति देता है, इसे मध्यकाल, विशेषतया कृष्ण भक्तिकाव्य के संदर्भ में देखा-समझा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि जब विभिन्न कलाएँ एक-दूसरे से संवाद की स्थिति में होती हैं, तब संपूर्ण कला-संसार में एक नई उठान आती है। प्राचीनकाल में दृश्यकाव्य की प्रमुखता थी और साहित्य रंगमंच से जुड़कर अधिक प्रसार पाता था। मध्यकाल का यह विचारणीय पक्ष है कि कविता, संगीत, चित्र एक दूसरे के निकट हैं और इसका आधार कृष्ण का लीला-संसार है, जैसे फारस से प्रभावित मुगल कला में आभिजात्य की प्रमुखता है और उसके विषय उसी के अनुसार हैं। पर इसी के समानान्तर जो राजपूत, पहाड़ी शैलियाँ विकसित हुई, उनका क्षेत्र राजस्थान से लेकर हिमाचल तथा उत्तराखंड तक है। पहले

महाभारत फिर भागवत इसके प्रेरणास्रोत रहे हैं और कृष्ण भक्तिकाव्य इसे नई सक्रियता देता है। इसका वैशिष्ट्य यह है कि इसका मुख्य आधार कृष्ण की विभिन्न लीलाएँ हैं - यमुना, कुंज, वृन्दावन आदि की प्राकृतिक भूमिका है। लोक की यह उपस्थिति कृष्ण भक्तिकाव्य को व्यापकता देती है और इसका स्वरूप मूलतः लोक कला का है। राधा, कृष्ण, गोपी, गोकुल-वृन्दावन, रासलीला आदि में प्रकृति के खुले परिवेश में इन चित्रों का विन्यास इसे प्रमाणित करता है। कृष्ण भक्त कवियों ने रागमाला के अंतर्गत विभिन्न ऋतुओं का चित्रण किया जहाँ राधा-कृष्ण भी आए हैं। यहाँ चित्र और संगीत में संयोजन है क्योंकि राग-रागिनियों में भी ऋतुराज की भूमिका है। वर्षा, वसंत चित्र की भी प्रेरणा हैं, और संगीत की भी, लेकिन कृष्ण-भाव की उपस्थिति के साथ। इसे संगीत-चित्र कहकर संबोधित किया गया है। राजस्थान में इन कविताओं की भावभूमि पर चित्र बने, कविता-पंक्तियाँ संगीत का आधार बनीं और चित्रों को कविता-शीर्षक भी दिए गए, संगीत से संबद्ध होकर भक्तिकाव्य ने व्यापकत्व प्राप्त किया, वह लोकधुनों का उपयोग कर सका और जनता के कंठ में समा गया, मंदिर-गायन में तो वह था ही।

8.8 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप कृष्ण के चरित्रगत अन्तर्विरोधों को समझ गए होंगे। वस्तुतः कृष्ण का व्यक्तित्व, कृष्ण भक्ति साहित्य के माध्यम से कई रूपों में हमारे सामने आता है। लीला पुरुषोत्तम से लेकर लोकदेवता के रूप में उनका महत्व जनमानस में व्याप्त है। कृष्ण भक्तिकाव्य के संदर्भ में श्रीमद्भागवत का विशेष महत्व है। भागवत में भक्ति को सर्वजनसुलभ बताया गया है। कृष्ण भक्ति के संदर्भ में दार्शनिक वाद-विवादों की अपेक्षा उसका लोकरूप अधिक प्रभावशाली होकर उभरा है। सूरदास के काव्य को पशुचारण काव्य की संज्ञा दी गई है। पशुचारण काव्य में जिन आदिम मनोभावों की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार की अभिव्यक्ति हमें सूर के काव्य में मिलती है।

कृष्ण काव्य के भक्त कवियों में अनुभूति की तन्मयता थी। अनुभूति की तन्मयता ने कवियों में संगीतात्मक चेतना का प्रसार किया। अधिकतर कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में लयात्मक सौंदर्य मिलता है। इसी कारण कृष्णभक्त कवि जनता में लोकप्रिय हुए। कृष्णभक्त कवियों के प्रभाव से ब्रजभाषा का विकास अखिल भारतीय स्तर पर हुआ। कृष्णभक्त कवियों ने सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में कृष्ण काव्य को प्रस्तावित किया था।

8.9 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय परम्परा में कृष्ण के विकास की चर्चा कीजिए।
2. कृष्ण गाथा के साथ-साथ विकसित होते भक्ति चिन्तन ने कृष्ण भक्तिकाव्य को किस रूप में प्रभावित किया? विवेचना कीजिए।
3. कृष्णभक्ति काव्य में वात्सल्य और श्रृंगार पर प्रकाश डालिए।
4. कृष्णभक्ति काव्य के शिल्प विधान की चर्चा कीजिए।

इकाई 9 राम भक्ति काव्य

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप भक्तिकालीन रामभक्ति काव्य का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भक्ति आंदोलन के संदर्भ में रामभक्ति काव्य की चर्चा कर सकेंगे;
- रामभक्ति शाखा की दार्शनिक पृष्ठभूमि का परिचय दे सकेंगे;
- रामभक्ति काव्य के सामन्तवाद विरोधी मूल्यों का विवेचन कर सकेंगे; और
- रामभक्ति साहित्य में लोकमंगल की भावना से परिचित हो सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में रामभक्ति काव्यधारा ने सगुण भक्ति और भक्ति आंदोलन की मूल संवेदना को लोक-भाव-भूमि पर दृढ़ता से प्रतिष्ठित किया है। दक्षिण भारत में भक्ति-आंदोलन और उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन दोनों की चेतना को तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में देखना होगा। इस इकाई में हम चिन्तन-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में यह भी समझेंगे कि इसमें रामानंद की क्या भूमिका रही है और उन्हें रामकाव्य परम्परा के चिंतन का मेरुदण्ड क्यों कहा जाता है? रामानन्द का रूढ़िवाद-पुरोहितवाद विरोधी चिन्तन ही कबीर और तुलसीदास में रचनात्मक निष्पत्ति पाता है। रामानन्द ने शास्त्र-परम्परा और संस्कृत भाषा के स्थान पर लोक-जागरण, लोक-कल्याण के लिए लोकभाषा में काव्य-सृजन की भूमिका तैयार की।

इसी भूमिका पर कबीर और तुलसी की भक्ति-चेतना, लोक-संवेदना का निर्माण विस्तार हुआ। वाल्मीकि रामायण की परम्परा ने समय के साथ परिवर्तनों को स्वीकार किया, उसी का नया सृजन-चिंतन राम-भक्ति काव्य में देखने को मिलता है।

9.2 रामकाव्य परम्परा

राम-कथा ऐतिहासिक है या पौराणिक-काल्पनिक? इस प्रश्न का सप्रमाण उत्तर देना कठिन है। रामकाव्य-परम्परा के अध्ययन से ऐसा अनुमान होता है कि राम भारतीय-संस्कृति के भाव-नायक हैं। इस भाव-नायक की कथा में हर युग कुछ-न-कुछ जोड़ता चला आया है। राम ऐतिहासिक पुरुष नहीं हैं - पुराण पुरुष हैं, मिथक नायक हैं - भावनायक और लोकनायक। देश और काल के परिवर्तन चक्रों में पड़े राम को लोक-नायक बनने में हजारों वर्ष लग गए। वैदिक काल के बाद संभवतः छठी शताब्दी ई.पू. में इक्ष्वाकुवंश के सूत्रों द्वारा रामकथा-विषयक गाथाओं की सृष्टि होने लगी। फलतः चौथी शताब्दी ई.पू. तक राम का चरित्र स्फुट आख्यान-काव्यों में रचा जाने लगा। इसलिए रामकथा के विद्वानों की एक बड़ी संख्या यह मानती है कि आदिकवि वाल्मीकि से कई शताब्दी पूर्व राम-कथा को लेकर आख्यान-काव्य-परम्परा मिलती है। किन्तु यह वाचिक परम्परा थी अतः इसका साहित्य आज अप्राप्य है। ऐसी स्थिति के कारण वाल्मीकिकृत रामायण प्राचीनतम उपलब्ध रामकाव्य है। भारतीय परम्परा वाल्मीकि को 'आदिकवि' और रामायण को 'आदिकाव्य' मानती है - यह भी इस बात का प्रमाण है कि काव्य-रूप में 'रामायण' को ही सर्वप्रथम लोकप्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। संभवतः आदिकाव्य का रचनाकाल चौथी शताब्दी ई.पू. रहा होगा। बहुत समय तक मौखिक रूप में प्रचलित रहने के कारण इस रचना का रूप स्थिर न रह सका। बालकांड तथा उत्तरकाण्ड के साथ अन्य कांडों में भी प्रक्षिप्तांशों का मुक्त प्रवेश हुआ। इस प्रकार वाल्मीकिकृत आदि रामायण का कलेवर दुगुना हो गया। कहते हैं कि वाल्मीकि ने तो बारह हजार श्लोकों के प्रबंध काव्य की रचना की थी जिसमें अयोध्या कांड से लेकर युद्धकांड तक की कथा थी, बाद में बालकांड और उत्तरकांड जोड़े गए।

वाल्मीकि ने देवताओं पर काव्य रचने की परंपरा को अस्वीकार करते हुए मानव की महिमा को प्रतिष्ठित करने के लिए नर-काव्य 'आदिकाव्य' का सृजन किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'भारतवर्ष में इतिहास धारा' नामक निबंध में कहा है कि वाल्मीकि ने सर्वप्रथम नरकाव्य परंपरा का प्रवर्तन किया। कथागायक कुशीलव अपने श्रोताओं की रुचि को ध्यान में रखकर रामकथा का गायन करते रहे। राम कौन थे, सीता कौन थी, इनका जन्म विवाह कब कहाँ हुआ, रावण कौन था, रावण वध के बाद राम-सीता का जीवन कैसा रहा, लोक में उठे इन तमाम प्रश्नों जिज्ञासाओं को शान्त करने के लिए 'आदिकाव्य' में बालकांड तथा उत्तरकांड को प्रक्षिप्त रूप में जोड़ दिया गया। इस प्रकार राम-कथा राम का अयन अर्थात राम का भ्रमण न रहकर सम्पूर्ण राम चरित के रूप में विकसित हुई। तुलसीदास का यह कहना 'मास आदि कवि पुंगव नाना। जिन भाषा हरि चरित बखाना' तथा 'राम कथा की मिति जग नाहीं' इसी सत्य की ओर संकेत करता है।

प्रचलित 'वाल्मीकि रामायण' के आज तीन भिन्न पाठ मिलते हैं - 1. दाक्षिणात्य पाठ (दक्षिण तथा गुजराती संस्करणों के पाठ), 2. गौड़ीय पाठ (गोरेसियो द्वारा सम्पादित तथा पेरिस में 1843 ई. में प्रकाशित कलकत्ता सीरीज का संस्करण) तथा 3. पश्चिमोत्तरीय पाठ (लाहौर का संस्करण)। इन सभी पाठों में काफी अन्तर है। इसका कारण है कि 'आदिकाव्य' को कई शताब्दियों के बाद अलग-अलग परंपराओं के आधार पर लिपिबद्ध किया गया।

बौद्धों ने कई शताब्दियों पूर्व राम को 'बोधिसत्व' मानकर, राम-काव्य को जातक साहित्य में स्थान दिया है। इस मेल-मिलाप से 'दशरथ जातक', 'अनाकम् जातक' तथा 'दशरथ कथानम' ये तीन जातक उत्पन्न हुए। बौद्धों की भाँति जैनियों ने भी राम-कथा को अपनाया और पर्याप्त लोकप्रियता प्रदान की। फलतः जैनियों ने विपुल राम-साहित्य की सृष्टि की। ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में जैनकवि विमलसूरि ने 'पउमचरिय' प्राकृत भाषा में लिखकर राम-कथा को जैन धर्म के साँचे में ढाल दिया। इसका संस्कृत रूपान्तर रविषेण ने सन् 660 ई. में 'पद्मचरित' नाम से किया और संवत् 1818 में दौलतराम ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया। इस प्रमुख ग्रंथ के आधार पर रामकाव्य की परम्परा में सृजन-कर्म को लेकर तेजी दिखाई दी।

संस्कृत में हेमचन्द्र ने 'जैन रामायण' (12वीं शताब्दी) जिनदास ने 'रामपुराण' (15वीं शताब्दी) पद्मदेव विजयगणि ने 'रामचरित' (16वीं श.) अपभ्रंश में सत्यभूदेव ने 'पउमचरिय' कन्नड़ में नागचन्द ने 'परम्परायण' (11वीं श.) कुमुन्देन्दु ने 'रामायण' (13वीं श.) तथा देवाय ने 'रामविजय चरित' की रचना की। जैन राम कथा का एक दूसरा रूप गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' (9वीं श.) लिखकर प्रस्तुत किया। इसके आधार पर भी संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश में रामकाव्य रचा गया।

संस्कृत के सृजनात्मक साहित्य में राम कथा को लेकर महाकाव्य तथा नाटकों के सृजन की एक विशाल परम्परा मिलती है। इस सृजन-परम्परा में **'वाल्मीकि रामायण'** से अलग हटकर शृंगार को स्थान मिला। **सेतुबंध** तथा **भट्टिकाव्य** में राक्षसों की शृंगार-चेतना, **जानकीहरण, कुमारसंभव** में भोगवाद का उभार मिलता है। कालिदास ने **रघुवंश** में पूरी रघुवंश की परम्परा का वर्णन किया। इस प्रकार वे रामायण के अंधानुकरण से दूर रहे। महाराष्ट्री प्राकृत में कश्मीर के राजा प्रवरसेन ने **रावणवहो** लिखा। भट्टिकवि ने बाईस सर्गों में व्याकरण के नियमों के निरूपण के साथ **रावणवध** लिखा। कुमार दास ने **जानकी हरण**, अभिनन्द ने **रामचरित**, आचार्य क्षेमेन्द्र ने **रामायणमंजरी**, साकल्पमल्ल ने **उदारराघव** शीर्षक महाकाव्य की रचना की। संस्कृत नाटकों ने राम कथा को नया रूप देकर नया सहृदय समाज दिया। **आश्चर्य चूड़ामणि, अद्भुत दर्पण, महावीर दर्पण, अनर्घ राघव, बाल रामायण, महानाटक** आदि नाटकों में इसी परम्परा के संकेत मिलते हैं। भास ने **प्रतिमानाटक** तथा **अभिषेक** नाटक लिखकर राम कथा को लोक में आगे बढ़ाया। इस परम्परा का श्रेष्ठ रूप भवभूति के **महावीरचरित** तथा **उत्तररामचरित** में मिलता है। उत्तररामचरित ने प्रचलित रामायण के उत्तरकांड की कथा को नया रूप दिया। भवभूति ने राम तथा अयोध्या की जनता के सामने सीता-चरित सबंधी करुण कथा के अभिनय की योजना की। भवभूति ने यह सिद्ध किया है कि मानव मर्म को स्पर्श करने में करुण-रस जैसा दूसरा कोई रस नहीं है। भवभूति के अनुकरण पर धरिनाग ने कुंदमाला नाटक की रचना की पर सफल न हो सके। राजशेखर ने बाल रामायण (10वीं शताब्दी) की रचना भी भवभूति के अनुकरण पर की-पर उत्तरराम-चरित के उत्कर्ष को कोई नहीं पा सका। प्रसन्नराघव, उदात्तराघव, महानाटक, अनर्घराघव आदि बहुत से नाटक लिखे गए पर वे भी राम कथा में कुछ नया नहीं जोड़ सके। राम काव्य परम्परा में कालिदास के मेघदूत के अनुकरण पर हंसदूत अथवा हंस संदेश, सीताराघव, राघवविलास आदि का सृजन भी हुआ।

भारतीय भाषाओं में राम काव्य की परम्परा बहुत विशाल है। दक्षिण की भाषाओं में प्राचीनतम प्राप्त राम कथा कवि कम्बन कृत तमिल रामायण है जिसका रचना काल ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। तेलुगु में रंगनाथ रामायण (12वीं शताब्दी), बुद्धराजकृत भास्कर रामायण (14वीं शताब्दी), मोल्ला कुम्हारिन रचित 'मोल्ला रामायण' जनप्रिय रही है। मलयालम में वाल्मीकि रामायण के 'कण्णश्श रामायण' तथा 'केरलवर्मा रामायण' दो अनुवाद लोकप्रिय हुए। यहाँ अध्यात्म रामायण का अनुवाद भी हुआ। कन्नड़भाषा में तोवेर रामायण' नरहरिकृत 'मैरावणवध' की रचना जनसाधारण में लोकप्रिय रही है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के राम काव्य पर इन रामायणों की गहरी छाप है। उत्तरी भारत में तुलसी रचित 'रामचरितमानस' तथा कृत्तिवासीय रामायण' दोनों बहुत लोकप्रिय हैं। कृत्तिवास ने पन्द्रहवीं शताब्दी में बंगला के पयारछन्द में रामायण रच डाली। इसके बाद बंगला में चन्द्रावली ने 'रामायण' रामानंद ने 'रामलीला', रघुनन्दन ने 'राम रसायन' लिखा। माधवि कन्दलि ने चौदहवीं शताब्दी में असमिया के 'वाल्मीकि रामायण' का पद्यानुवाद किया तथा दुर्गावर ने 'गीतिरामायण' की रचना की। असमिया कवि शंकर देव ने 'राम विजय नाटक' लिखा। गुजराती में भालण ने 'सीतास्वयंबर' (राम-विवाह) गिरधरदास ने 'रामायण' 'बलरामदास रामायण', 'दाण्डिरामायण', सरलादासकृत 'विलंकारामायण' या 'विचित्र रामायण', कश्मीरी में दिवाकर भट्ट ने 'कश्मीरी रामायण' नेपाली में कवि भानु ने 'अपना रामायण' की रचना की। सारांश यह है कि पूरा भारतीय काव्य शताब्दियों तक नैतिक-आध्यात्मिक आदर्शों-मूल्यों को लेकर राममय रहा है।

विदेश में रामकथा का प्रसार सर्वप्रथम बौद्धों ने किया है। 'अनामजातकम्' तथा 'दशरथकथानम्' का तीसरी-चौथी शताब्दी में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। इसके बाद तिब्बती रामायण मिलती है और रामायण के अनुवाद छाए रहे। जावा में रामायण का काविन, हिकायत सेरीराम काव्य, कम्बोडिया में रामकेर्ति, श्याम रामकियेन की रामकाव्य परम्परा है। विदेशों में रामलीला का अभिनय आज भी जारी है। भारत से मारीशस, फीजी आदि जाने वाले लोग भी रामचरितमानस को साथ लेकर गए और राममय होकर जीते हैं।

भारत से रोजी-रोटी के लिए विदेश जाने वाले मजदूर, कुली अपने साथ रामचरितमानस, कम्बरामायण, कृत्तिवास रामायण अवश्य ले गए। अपने प्रवास में इन सभी ने अपने राम को नहीं छोड़ा - सीता-हनुमान को नहीं छोड़ा। इस प्रकार विश्वभर में अवध के राम किसी न किसी रूप में विद्यमान मिलते हैं। विदेश में राम-काव्य की एक ऐसी परम्परा है जिसका इतिहास हमें आश्चर्यचकित कर देता है।

हिन्दी में सगुण रामकाव्य परंपरा

रामभक्ति शाखा में रामकाव्य के महत्वपूर्ण कवि तुलसीदास के अतिरिक्त भी कुछ कवि हैं। इन कवियों ने तुलसीदास की तरह सार्वदेशिक और सार्वकालिक रचना तो नहीं की परंतु उनका महत्व भी रामभक्ति शाखा के इतिहास में है। उन रामभक्त कवियों में रामानंद का नाम आता है। रामानंद ने भक्ति को शास्त्रीय मर्यादा के बंधन से मुक्त माना। जाति और वर्ण के भेदभाव से ऊपर उठकर भक्ति को जनसामान्य से जोड़ने का प्रयत्न किया। इसलिए रामानंद की शिष्य परंपरा का संबंध रामभक्ति शाखा के तपसी और उदासी सम्प्रदाय से जोड़ा जाता है, वहीं निर्गुण भक्ति के ज्ञानमार्गी परंपरा से भी उनका संबंध संकेतित किया जाता है। रामानंद के कुछ पद हनुमान जी की स्तुति के रूप में प्रचलित हैं।

"आरति कीजै हनुमान लला की, दुष्ट दलन रघुनाथ कला की।''

दूसरे रामभक्त कवियों में अग्रदास का नाम प्रमुख है। अग्रदास ने रामभक्ति को कृष्ण भक्ति के लोकानुरंजन के समीप लाने का प्रयत्न किया। उनके काव्य में अष्टयाम अथवा रामाष्टयाम को मुख्य माना जाता है। राम के ऐश्वर्य रूप की झाँकी इन लीलाओं में स्पष्ट दिखाई देती है। इन्होंने सखी सम्प्रदाय के लिए रास्ता साफ कर दिया। ईश्वर दास भी रामभक्त कवि थे। राम कथा से संबद्ध उनकी रचनाओं में 'भरत मिलाप' और 'अंगद पैज' प्रमुख हैं। भरत मिलाप में उन्होंने करुण प्रसंग को तन्मन्यता से रचा है। अंगद पैज में अंगद की वीरता का ओजपूर्ण वर्णन है।

नाभादास तुलसीदास के समकालीन रामभक्त कवि थे। नाभादास अग्रदास के शिष्य थे। भक्त माल की रचना नाभादास ने की थी। भक्त माल हिंदी साहित्य के इतिहास के लिए महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें मध्यकाल के भक्त कवियों पर टिप्पणी की गई है। इस ग्रंथ से तत्कालीन समाज की मानसिकता का पता चलता है। भक्त कवियों का जनता पर क्या प्रभाव था इसकी भी सूचना हमें मिलती है। अन्य राम भक्त कवियों में प्राण चंद चौहान का और हृदय राम का उल्लेख किया जाता है। प्राणचंद चौहान ने रामायण महानाटक और हृदयराम ने भाषा हनुमान नाटक लिखा।

9.3 रामकथा की प्राचीनता और विरुद्धों में सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि

वैष्णव मत 'भागवत मत' पांचरात्र मत में सब का सब आर्यों का दिया हुआ नहीं है। शैव-शाक्य मत में द्राविड़ प्रभाव भी कम नहीं है। विद्वानों ने यह प्रश्न शंका के साथ समय-समय पर उठाया है कि गौरवर्ण के आर्यों ने विष्णु की कल्पना (राम और कृष्ण) में काले रंग को क्यों स्थान दिया। ऋग्वेद में तो विष्णु सूर्य के पर्याय हैं। आ. क्षितिमोहन सेन ने वैष्णव धर्म को आर्य-धर्म न मानकर अवैदिक मानते हुए कहा है कि जिस भृगु ने लिंगधारी शिव को शाप दिया था उसी ने विष्णु के वक्षस्थल पर पदप्रहार किया। अतः वैष्णव धर्म प्राचीनतर वैदिक भृगु के उस पदाघात से लांछित होकर हमारे देश में प्रतिष्ठित हुआ। भारत में आर्यों के देव विष्णु, द्रविड़ों के आकाश-देव से मिल गए जिनका रंग द्रविड़ों के अनुसार आकाश सदृश नीला या श्याम था। डॉ. भण्डारकर ने कहा कि विष्णु में सूर्य, नारायण, वासुदेव तीनों तत्वों का योग है। विष्णु और राम का मूल स्रोत क्या है, इसका समाधान आज भी सरल नहीं है। हाँ, यह सच है कि राम के प्रति आदर, बुद्ध तथा महावीर के समय में भी जोरों पर था। वेदों में रामकथा के पात्रों के नाम हैं - दशरथ, कैकेयी, जनक, सीता आदि। वैदिक सीता (खेत में हल से बनायी हुई रेखा) को इन्द्रपत्नी और पर्यन्द - पत्नी भी कहा गया है। महाभारत के द्रोणपर्व में कृषि की अधिष्ठात्री देवी सीता का उल्लेख है। हरिवंश पुराण में

आता है - 'तू कृषकों के लिए सीता है।' पंडितों का अनुमान है सीता-कृषि देवी रही होंगी। सीता ही बाद में 'आयोनिजा कन्या' बन गईं और उन्हें हल चलाते जनक ने पाया। इन्द्र ही परम्परा में विकसित होकर राम बन गए। कई बार पंडितों ने राम-रावण युद्ध को आर्य-अनार्य युद्ध की कल्पना से भी जोड़ा है। किन्तु इस प्रकार की कल्पना से राम कथा की किसी समस्या का समाधान नहीं होता।

ऐसा लगता है कि रामायण की कथा में तीन कथाओं का मेल हुआ है - 1. अयोध्या के राजा की कथा, 2. दक्षिण में रावण की कथा तथा 3. किष्किंधा के बानरों की कथा - हनुमान आदि की कथा। अत: राम, रावण, हनुमान तीनों ही तीन संस्कृतियों के प्रतीक हैं जिनका समन्वय-सामंजस्य ऋषि वाल्मीकि की प्रतिभा द्वारा संभव हुआ। आर्य-आर्येतर जातियाँ - वैष्णव, शिव सब एक हो गए। राम धीरे-धीरे विष्णु के अवतार बन गए। रामधारी सिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में खोज-बीन के बाद कहा है, "भारत में संस्कृतियों का जो विराट समन्वय हुआ है, राम कथा उसका अत्यंत उज्ज्वल प्रतीक है। सबसे पहले तो यह बात है कि इस कथा में भारत की भौगोलिक एकता ध्वनित होती है, एक ही कथा में अयोध्या, किष्किंधा और लंका तीनों के बँध जाने के कारण सारा देश एक दीखता है। राम कथा की दूसरी विशेषता है कि इसके माध्यम से वैष्णव और शैव मतों का विभेद दूर किया गया।"

9.4 रामभक्ति काव्य और रामानंद सम्प्रदाय

रामानंद को रामभक्ति परम्परा के चिंतन का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम लोक भाषा में रचना कर्म करने की प्रेरणा दी। रामानंद की दो भुजाएँ - निर्गुण धारा में कबीर और सगुणधारा में तुलसीदास दोनों ही रामानंद के मानस-शिष्य हैं और दोनों ही दो परम्पराओं के प्रवर्तक और अपने-अपने ढंग के लोकमंगलवादी हैं। रामानंद सम्प्रदाय की स्थापना आज से छह सौ वर्ष पूर्व हुई थी। इस सम्प्रदाय या मत के प्रवर्तक स्वामी रामानंद का पूर्व-सम्बंध रामानुजाचार्य (11वीं शताब्दी) के सम्प्रदाय से रहा। इस बात की पुष्टि नाभादासकृत 'भक्तमाल' से भी होती है। रामानुजाचार्य की चिन्तन-परम्परा को हर्याचार्यकृत 'रामस्तवराज भाष्य', 'रसिक प्रकाश', 'भक्तमाल', 'सम्प्रदाय दिग्दर्शन' आदि ग्रंथों ने आगे बढ़ाया। विद्वानों ने रामानंद के द्वारा स्वतंत्र सम्प्रदाय के निर्माण का कारण बताते हुए कहा है कि देश-भ्रमण के बाद रामानंद के भाइयों ने जगह-जगह खान-पान करने के कारण उन्हें धर्मभ्रष्ट कहकर अलग कर दिया। फलत: गुरु-आज्ञा पाकर रामानंद ने एक अलग सम्प्रदाय की स्थापना की जिसमें जातिवाद का खंडन प्रमुख स्थान रखता है। राम को अपना आराध्य स्वीकार करते हुए रामानंद ने गाया - 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।।' इस प्रकार सभी जातियों के लिए बिना किसी भेद-भाव के हरि-भक्ति का मार्ग रामानंद ने खोल दिया। हिंदी के भक्ति-आंदोलन का जातिवाद-विरोधी चरित्र रामानंद की इसी विचारधारा का प्रचार-प्रसार कहा जा सकता है।

रामानंद-सम्प्रदाय से पूर्व 'श्री सम्प्रदाय' था। मंत्र, ध्यान, पूजा, उपासना, उपास्यदेव आदि के आचारों के कारण इसकी दो शाखाएँ हो गईं - एक में भगवान राम को प्रधानता मिली, दूसरे में नारायण को। कालान्तर में राम-शाखा का उद्धार रामानंद ने किया। अग्रदास ने रामानंद की गुरु-परम्परा में श्रुतानंद, चिदानंद, पूर्णानंद, हर्यानंद, राघवानंद तथा रामानंद का उल्लेख किया है। रामानंद ने स्वयं अपने ग्रंथ 'रामार्चन-पद्धति' में अपनी गुरु-परम्परा दी है। रामानंद ने अनुभव किया कि राम-भक्ति को साधना पक्ष की रूढ़ियों -जटिलताओं से मुक्त कर जनता के हृदय में उतारा जाए। उन्होंने राम और सीता के साथ हनुमान को नया रूप दिया। रामानंद ने ही हनुमान की पूजा-आरती का तुलसीदास से पहले उत्तरी भारत में विस्तार किया। उन्होंने ही 'आरति श्री हनुमान लला की' प्रार्थना की रचना की जो भक्तों का कंठहार बनी है। रामानंद का जन्म प्रयाग में हुआ था और इस यायावर संत-आचार्य का देहावसान काशी में हुआ (सं. 1356-सं. 1467)। रामानंद के ग्रंथों में 'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर', 'श्री रामार्चन पद्धति', 'आनंद भाष्य', 'सिद्धांत पटल', 'रामरक्षा स्तोत्र', 'योग चिन्तामणि', 'श्री रामाराधन', 'रामानंदादेश', 'वेदान्त विचार', शिवरामाष्टक', 'हनुमानस्तुति' आदि है। रामानंद के शिष्यों में अनंतानंद, सुखानंद, नरहर्यानंद, भावानंद, कबीर, पीपा, तुलसीदास आदि हैं। इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध स्थान अयोध्या, चित्रकूट, मिथिला और काशी रहे हैं।

रामानंद-संप्रदाय में विशिष्टाद्वैत को ही मान्यता प्राप्त है। रामानंद ने अपने मत को 'आनंद भाष्य' में प्रस्तुत किया और विशेष दार्शनिक विचार-धारा को 'श्रीरामार्चन पद्धति', 'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर' में स्पष्ट किया। उनके शिष्य कृष्णदास पयोहारी ने राजस्थान में गलता नामक स्थान में रामानंद की गद्दी स्थापित की। रामानंद के आराध्य हैं - श्रीराम। वे शील, शक्ति एवं सौंदर्य के केन्द्र हैं। रामानंद का यही प्रतिमान तुलसी ने 'मानस' में अपनाया है। इस संप्रदाय ने माना कि संसार के एकमात्र कर्त्ता, पालक एवं संहर्त्ता राम ही हैं - जीव उनका ही अंश है - अंशी-अंश सम्बंध। सीता, राम की अनादि-सहचरी, आद्याशक्ति हैं। राम-सीता की एकाग्रभाव से भक्ति ही भव-मोक्ष का साधन है। प्रपत्ति और न्यास इसके दो प्रधान अंग हैं और व्यवहार में नवधा-भक्ति की महिमा है। इस सम्प्रदाय की मुख्य भक्ति पद्धति दास्य भाव की है। भक्ति के अधिकारी ब्राह्मण, शूद्र सभी हैं। यहाँ कर्मकाण्ड को विशेष आदर नहीं दिया गया। कबीर, तुलसी, मैथिलीशरण पर रामानंदी, विचारधारा का गहरा प्रभाव है। राम के साथ जीव का सेवक-स्वामी, सेव्य-सेवक, रक्ष्य-रक्षक संबंध है और राम ही रस-रूप हैं - आनंद रूप हैं कबीर ने अपने राम को निर्गुण-निरंजन कहते हुए भी उसके गुणों का वर्णन किया है - पर दशरथ पुत्र अवतारी राम में कबीर का विश्वास नहीं है - तुलसी का है। किन्तु दोनों की भक्ति दास्य-भाव की है और दोनों ही लोक-भाषा के कवि हैं। तुलसी ने गोरखनाथ के योग-मार्ग की निंदा की है और कबीर ने शाक्तों की, किंतु दोनों भक्ति-मार्ग के धीर-गंभीर साधक हैं। रामानंद सम्प्रदाय के कवियों में अग्रदेव, अवधभूषणदास, कृपानिवास, कामदेन्द्रमणि, चित्रनिधि, जनकराज किशोरीशरण, जानकी रसिक शरण, नाभादास, रामचरणदास, रामप्रियाशरण, रसरंगमणिदास आदि का प्रमुख स्थान है। भ्रष्ट भक्तों ने राम-भक्ति में रसिक-सम्प्रदाय चलाकर माधुर्य-भाव के बहाने शृंगार-भाव भोग का चक्र भी चलाया है।

9.5 रामलीला परम्परा का प्रवर्तन

आ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'गोसाईं तुलसीदास' शीर्षक ग्रंथ में राम-लीला परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय तुलसीदास जी को दिया है। उनका मत है कि जनश्रुति के अनुसार नाटक की लोकशक्ति को समझकर तुलसीदास ने रामलीला का प्रारूप तैयार किया और काशी में पहली राम-लीला उन्हीं की प्रेरणा से हुई। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' को 'नाट्य लीला प्रबंध' के काव्य रूप में ढाला है। आज भी 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता का आधार रामकथा का लीला के रूप में मंचन है। राम को लोक-नायक बनाकर तुलसी ने पूरे भारत में एकत्राणकारी के रूप में राम को निर्मित किया। सिद्धों-नाथों की चमत्कारवादी-योगवादी-अद्वैती परम्परा से तुलसी ने अपने ढंग से मुकाबला किया - सगुण, साकार ब्रहम के लीला गायन - भजन कीर्तन के द्वारा। जयशंकर प्रसाद ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' शीर्षक पुस्तक के 'रहस्यवाद' लेख में लिखा है - 'दुखवाद जिस मनन शैली का फल था, वह बुद्धि या विवेक के आधार पर तर्कों के आश्रय में बढ़ती ही रही। अनात्मवाद की प्रतिक्रिया होनी ही चाहिए। फलत: पिछले काल में भारत के दार्शनिक अनात्मवादी ही भक्तिवादी बने और बुद्धिवाद का विकास भक्ति के रूप में हुआ।' फिर आगे उन्होंने कहा, "जिन-जिन लोगों में आत्मविश्वास नहीं था उन्हें एक त्राणकारी की आवश्यकता हुई।'' कविवर प्रसाद का यह मत आ. रामचंद्र शुक्त के मत 'भगवान की शरण' में जानेवाली बात से एकदम जुड़ जाता है। राजनीतिक पराभव के कारण जातीय आत्मविश्वास के स्खलन के भाव की चर्चा सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने 'तुलसीदास' काव्य में भी की है। स्वयं निराला पर तुलसीदास का बहुत गहरा प्रभाव है। तुलसीदास ने जातीय-आत्मविश्वास को दृढ़ करने के लिए राम लीला-नाट्य की रचना की। इस बात में पूर्णसत्य चाहे न हो पर आंशिक सत्य अवश्य है। उसकी चिंता 'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोक' निश्चय ही थी और रामानंद विचार पद्धति के भाव से हिन्दूजाति तन्त्र की जड़ता पर भी प्रहार करना चाहते थे। 'परम्परा का मूल्यांकन' पुस्तक में डॉ० रामविलास शर्मा ने 'तुलसी साहित्य में सामंत-विरोधी मूल्य' तथा 'भक्ति आंदोलन और तुलसीदास' में तुलसी के भक्त की क्रांतिकारी भूमिका का अच्छा विवेचन मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। डॉ० रामविलास शर्मा ने ग.मा. मुक्तिबोध के प्रसिद्ध निबन्ध 'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू' की इस स्थापना कि सगुणवादियों ने निर्गुण संतों की भक्ति धारा के दाँत - 'क्रांतिकारी दाँत उखाड़ दिए' का खण्डन किया है। राम भक्ति धारा ने चाहे शूद्र राम भक्त कवि पैदा न किया हो पर शूद्र केवट, शबरी-निशाद, कोल-किरात को गले लगाया है। तुलसी के राम के मन में शूद्र और नारी के प्रति अपार सम्मान का भाव है। 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' जैसी काव्यपंक्ति

का अज्ञानियों ने दुरुपयोग किया है। राम के अयोध्या लौटने पर राम की अगवानी में नारियाँ आगे हैं, पुरुष नहीं। 'नारि समुद्र समान' का अर्थ भी हमें ठीक से समझना चाहिए।

राम लीला का प्रचार भक्तिकाल में जोरों पर था। अवध, काशी पहले प्रधान केन्द्र थे पर राजपूताना, इटावा, मथुरा, मैनपुरी, एटा, फर्रूखाबाद, अलीगढ़, कानपुर सभी जगह इसकी धूम थी। यह दक्षिण में बरार, मैसूर, रामेश्वरम् तक पहुँची। राम लीला का आधार पौराणिक राम कथा है और 'रामचरित मानस' इसका प्राण पोषक। संवाद छंदोबद्ध रहते हैं – प्राय: दोहा-चौपाई। सभी रस कथा में अद्भुत तत्व की सृष्टि करते हैं। धनुष यज्ञ के दृश्य, सीता स्वयंवर, परशुराम-लक्ष्मण संवाद, सीताहरण प्रसंग, बालि-वध प्रसंग, हनुमान-सीता-अशोकवाटिका आदि के दृश्य प्रसंग जनता के हृदय में रच बस जाते हैं। रंगमंच पर हर आयु का व्यक्ति अभिनय करता है। सूत्रधार रंगभूमि में उपस्थित रहता है और लीला का संचालन करता है। लीला के आरंभ और अंत में राम-सीता की आरती होती है। आज भी राम-लीला भारतीय जनता का अतीत नहीं वर्तमान है।

9.6 राम भक्ति भावना

भारतीय भक्ति भावना की प्राचीन परम्परा तथा वैष्णव चिन्तन में राम-भक्ति की महत्व प्रतिष्ठा देखकर सहसा ही यह विश्वास होता है कि राम भक्ति के विकास में वैष्णव चिंतन की आगम (लोक) निगम (वेद) परम्पराओं का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यज्ञप्रधान, कर्मकाण्डी, ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रियास्वरूप भागवत धर्म उत्पन्न हुआ था। कहते हैं कि स्वयं भगवान को इस धर्म का प्रवर्तन करना पड़ा इसलिए इसका नाम पड़ा – 'भागवत धर्म'। भागवत-धर्म में भक्ति-मार्ग का विकास हुआ एवं भागवतों ने इष्टदेव वासुदेव को वैदिक देवता विष्णु का अवतार माना। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म तथा भागवत धर्म के सामंजस्य से वैष्णव धर्म की उत्पत्ति हुई। वैष्णव धर्म में भक्ति-भावना विष्णु नारायण वासुदेव कृष्ण के साथ उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। ईसवीं सन् के प्रारंभ से राम को विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकृति मिल गई। किन्तु शताब्दियों तक राम-भक्ति ठंडी पड़ी रही। फादर कामिल बुल्के (रामकथा) तथा गोपाल भण्डारकर (वैष्णविज्म एंड शैविज्म) जैसे विद्वानों का कहना है कि भक्ति के क्षेत्र में राम की प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी ई० के लगभग प्रारंभ हुई। दरअसल, राम भक्ति की सशक्त अभिव्यक्ति काव्य के रूप में हुई। तमिल आलवारों की 'नालियर-प्रबंध' नामक रचना में भगवान विष्णु के अवतारों के प्रति भक्ति मिलती है। कवि कुलशेखर (नवीं शताब्दी ई०) के पदों में राम-भक्ति का प्रवाह है और वहाँ ग्यारहवीं शताब्दी में राम-भक्ति से संबंधित रचनाओं की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई तथा स्तोत्र साहित्य उमड़ पड़ा, जैसे श्री राम सहस्त्रनाम स्तोत्र, रामरक्षा स्तोत्र आदि। पन्द्रहवीं शताब्दी ई० तक राम भक्ति की धारा ने दक्षिण से उत्तर में नया मोड़ लिया। श्री सम्प्रदाय के आचार्यों ने राम-भक्ति-काव्य की शास्त्रीय दार्शनिक भूमिका तैयार की। ध्यान देने की बात यह है कि श्री सम्प्रदाय उन चार सम्प्रदाय में से एक है जो शंकराचार्य के मायावाद के विरोध में सामने आया है। इसने अवतारवाद को स्वीकार कर भक्ति के दार्शनिक आधार को प्रस्तुत किया। श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य ने अपने 'श्रीकाव्य' में राम और कृष्ण के अवतारों का उल्लेख किया तथा भक्ति के नर-नारायण सिद्धांत को आदर के साथ प्रतिष्ठित किया। श्री सम्प्रदाय के तीनों उपनिषद् राम-भक्ति का प्रतिपादन करते हैं – 'रामपूर्वतापनीय', 'रामोत्तरतापनय' तथा 'रामरहस्योपनिषद्'। राम भक्ति में संहिताएँ लिखी गईं – जैसे 'अगस्त्य संहिता', 'कालिराघव संहिता', 'राघवीय संहिता' आदि। यह ठीक बात है कि रामानंद से पूर्व महाराष्ट्र में नामवेद और त्रिलोचन राम-भक्ति का प्रचार कर चुके थे। किन्तु उत्तर भारत में राम-भक्ति को जनसाधारण में लोकप्रियता प्रदान कराने का श्रेय रामानंद को ही है। 'अध्यात्मरामायण', 'आनंदरामायण', 'अद्भुत रामायण' तथा 'भुशुण्डी रामायण' आदि ने राम-भक्ति की भूमि तुलसीदास के लिए तैयार कर दी थी।

9.7 वैष्णव-शैव-भक्ति आंदोलन और हिंदी का भक्ति काव्य

भारतीय चिंतनधारा में भक्ति-मार्ग का विशिष्ट महत्व अनेक साहित्यिक सांस्कृतिक, धार्मिक-राजनीतिक कारणों से है। अपने पूरे स्वरूप में यह आन्दोलन अखिल भारतीय है और इसका चरित्र सामन्त-विरोधी है।

कर्मकाण्डवाद-ब्राह्मणवाद, पुरोहितवाद, कट्टर धर्मवाद, जातिवाद का विरोध इस भक्ति-आंदोलन की क्रांतिकारी चेतना है। भक्ति के बीज वैदिक-उपनिषद् युग में ही मिलने लगते हैं। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की दुरूहता को भक्ति-मार्ग समाप्त करता चलता है इसलिए शास्त्र के विरुद्ध लोक-जागरण की विद्रोही चेतना इस भक्ति-आंदोलन का 'स्व-भाव' है। वेद, उपनिषद्, रामायण-महाभारत-काल, गीता महाकाव्य, भागवत धर्म आदि को वैष्णव-भक्ति भावना के विकास का सोपान मानना होगा। ब्राह्मण ग्रंथों का कर्मकाण्ड और यज्ञ का पुरोहितवाद बौद्धों के चिंतन से लड़खड़ा जाता है। बौद्ध और जैन दोनों दर्शनों का चिंतन ब्राह्मणवाद विरोधी रहा है। बौद्ध धर्म जैसे-जैसे लोक-धर्म में घुलता गया, वैसे-वैसे मध्ययुगीन धर्म-साधना में सहज-साधना और भक्ति-भावना की भूमि तैयार होती गई।

दक्षिण भारत में विशेषकर तमिल प्रदेश में आलवार और नयनारों ने भक्ति आंदोलन को तेज गति प्रदान की। आलवारों ने भक्ति-मार्ग को जो नया रूप दिया, उसे ही 'वैष्णव भक्ति आंदोलन' कहा जाता है। आंदोलन का यहाँ अर्थ है - सुधारवादी नवजागरण की चेतना का विद्रोही तेवर। आलवारों ने शास्त्रीय वैष्णव भक्ति को भावमूलक बनाकर जनसाधारण में फैलाया। इस प्रकार भक्ति आंदोलन को जन-आंदोलन बनाने में आलवारों की बहुत बड़ी भूमिका रही है। इन आलवार भक्तों का समय ईसा की पाँचवी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक है। आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य के आविर्भाव ने भक्ति आंदोलन को भारी झटका दिया लेकिन कुछ समय बाद रामानुजाचार्य (11वीं शताब्दी) ने इसमें पुनः प्राण डाल दिए। रामानुजाचार्य ने शंकर की दार्शनिक स्थापनाओं का विरोध करते हुए भक्ति का शास्त्रीय विवेचन किया। इस प्रयत्न से अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ और दक्षिण भारत की भक्ति का प्रवाह उत्तर भारत पहुँचा। 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद' के पीछे मध्ययुग के महान संत रामानंद की महिमा का ही उद्घोष है। भक्ति की निर्गुण और सगुण मार्गी धाराओं पर रामानंद के चिंतन का प्रभाव पड़ा है।

रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य और बल्लभाचार्य जैसे आचार्यों ने भक्ति आन्दोलन को दृढ़ दार्शनिक और सामाजिक आधार प्रदान किया। दक्षिण के ये आचार्य उत्तरी भारत में आए और जनता की भक्ति-भावना को सींचने का कार्य करने लगे। मध्वाचार्य-वल्लभाचार्य ने कृष्णोपासना को और रामानंद ने रामोपासना को संजीवनी देने का कार्य किया।

आलवार और नयनार दोनों ने सगुणभक्ति को विशेष रूप से अपनाया और उसमें शरणागतिभाव (प्रपत्तिभाव) को प्रधानता दी। सामान्यतः आलवारों की संख्या बारह मानी गई है और इनके भजन गीत जिस ग्रंथ में संग्रहीत किए गए हैं उसका नाम है - 'तमिलदिव्यप्रबन्धम'। नवीं शताब्दी में नाथमुनि ने मौखिक परम्परा में विद्यमान आलवार भक्तों की रचनाओं को संगृहीत किया। रामानुजाचार्य के समय में उनके शिष्य अमुदन ने अपने गुरु रामानुजाचार्य की स्तुति में जो पद रचे थे उन्हें भी बाद में 'तमिल प्रबन्धम' कहते हैं। इस वैष्णव कवि समूह में आंदाल (गोदा) एकमात्र स्त्री है। वैष्णव आलवारों के साथ शैव भक्त कवि नयनार का भक्ति आंदोलन में अविस्मरणीय योगदान है। शैव भक्तों ने तमिल में बौद्धों और जैनों को परास्त कर शैव भक्ति को जनभक्ति का रूप दिया। ये शैव संत इतने लोकप्रिय हुए कि शैव मंदिरों में इनकी मूर्तियाँ स्थापित की गईं और इनके पदों का गायन शुरू हुआ। नयनार भक्तों की एक लम्बी परम्परा है जिसमें तिरसठ संत-भक्त आते हैं। पल्लव-चोल राजाओं का इन्हें राज्याश्रय मिला और सैंकड़ों शैव-मंदिरों का निर्माण हुआ।

आलवारों ने श्रीकृष्ण और राम को विष्णु का अवतार माना है और क्षीरशायी विष्णु के रूब को विशेष महिमामंडित किया। किन्तु आलवारों का मन राम में कम श्रीकृष्ण में ज्यादा रमा है। सच बात यह है कि रामकथा का विकास भारतीय भाषाओं में ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के बाद ही अधिक हुआ है। 'नालियार दिव्य प्रबन्धम' से प्रभावित दक्षिण भारत के भक्त आचार्यों ने शंकराचार्य के 'मायावाद' का खंडन किया। रामानुजाचार्य (सं० 1084-1194) ने उत्तरी भारत की यात्रा की और विशिष्टाद्वैत (जीव और जगत दोनों परमात्मा के गुण विशेष हैं और जगत सत्य है - यह सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है) के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया। कर्मकांड एवं ज्ञान कांड का खंडन करते हुए भक्ति मार्ग की स्थापना की तथा उच्चवर्णों के साथ निम्नवर्णों के लिए भी भक्ति का द्वार खोल दिया। निम्बार्काचार्य (सं० 1171-1219) ने

दार्शनिक मत द्वैताद्वैत के अनुसार राधा-कृष्ण भक्ति का प्रतिपादन किया। मध्वाचार्य (सं० 1254-1333) ने द्वैत-सम्प्रदाय के अनुकूल सगुण राधा-कृष्ण के लीलागान पर बल दिया। बल्लभाचार्य (सं०1536-1587) ने अपने शुद्धाद्वैतवाद में राधा-कृष्ण भक्ति का 'पुष्टि-मार्ग' प्रदिपादित किया। बल्लभाचार्य के प्रभाव से भक्ति आंदोलन में जनता के लिए राग और रस तत्व का प्रवेश डटकर हुआ है। चैतन्यदेव (सं० 1542-1590) ने राग प्रधान रागानुरागा भक्ति को जनभाषा के माध्यम से जनसाधारण के भक्ति आंदोलन में बदलने का प्रयास किया। रामानंद के द्वारा यह बहुत बड़ा कार्य हुआ कि उन्होंने कबीर और तुलसीदास दोनों को जातिवाद विरोधी भक्ति आंदोलन का रास्ता दिखाया है।

9.8 हिन्दी साहित्य का भक्ति आंदोलन : इस्लाम का प्रभाव है या प्रतिक्रिया

इस विषय पर हमने इस खंड की इकाई सं-5 में भी चर्चा की है। आइए इस विषय की स्पष्ट समझ के लिए अधिक विस्तार से चर्चा करें। हिंदी साहित्य में भक्ति धारा का उदय 'वीरगाथाकाल' के बाद क्यों, और कैसे हुआ, इस पर विद्वानों में विवाद हुआ। 'जिन-जिन लोगों में आत्मविश्वास नहीं था उन्हें एक त्राणकारी की आवश्यकता हुई।' (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध) जयशंकर प्रसाद के इस मत से आ. रामचन्द्र शुक्ल का मत बहुत मिलता है। इस्लाम की आक्रामक परिस्थितियों ने भक्ति आंदोलन को तीव्र किया। साथ ही 'भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा अवकाश दिया'। आ. शुक्ल 'जनता की चित्तवृत्ति' के अनुसार भक्तिकाल के उदय की व्याख्या करते रहे। आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में 'लोकचिंता' को आधार बनाकर आ. शुक्ल के मत का प्रतिवाद किया। भारतीय साहित्य की प्राणधारा और भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास' पर ध्यान देकर उन्होंने कहा - 'मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस (हिन्दी) साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।' आ. द्विवेदी ने कहा कि हिंदी साहित्य 'हतदर्प पराजित जाति' की सम्पत्ति नहीं है और न मुस्लिम आक्रमण की प्रतिक्रिया है।

आ. शुक्ल और आ. द्विवेदी के द्वारा उठाए गए विवाद को लेकर नए सिरे से रामस्वरूप चतुर्वेदी और नामवर सिंह के बीच एक वैचारिक युद्ध हुआ। प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' (पृ० 39) में लिखा है - ''यहाँ स्पष्ट है कि रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल संबंधी अपनी व्याख्या में इस्लाम के प्रति जो प्रतिक्रिया की बात कही थी वह हजारीप्रसाद द्विवेदी को स्वीकार नहीं है। अच्छा तो होता कि दो पंडितों के बीच के इस विवाद को यहीं छोड़ा जा सकता। पर एक तथ्य की ओर ध्यान दिलाए बिना यह प्रसंग अधूरा रह जाएगा। सूरदास विषयक अध्ययन करते समय विद्वानों ने प्रायः वल्लभाचार्य की इन पंक्तियों को उद्धृत किया है, देश म्लेछाक्रांत है, गंगादि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहे हैं, अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है, तत्पुरुष पीड़ित व ज्ञान-विस्मृत हो रहा है, ऐसी स्थिति में एकमात्र कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण है।' भक्त कवियों के एक प्रमुख गुरु के सीधे साक्ष्य पर यों प्रतिक्रिया वाली व्याख्या पुष्ट होती है। अच्छा होता कि प्रभाव और प्रतिक्रिया दोनों रूपों में इस्लाम की व्याख्या सहज भाव और अकुंठ मन से की जाए। तब आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के बीच दिखनेवाला यह मतभेद अपने आप शांत हो जाएगा। भक्ति काव्य के विकास के पीछे बौद्ध धर्म का लोकमूलक रूप है और प्राकृत के श्रृंगार की प्रतिक्रिया है तो इस्लाम के सांस्कृतिक आतंक से बचाव की सजग चेष्टा भी है। इस्लामी प्रतिक्रिया वाली रामचन्द्र शुक्ल की व्याख्या को कई बार अनजान में, या कि शायद जानबूझकर, विभ्रमित किया जाता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' और उनके योग्य शिष्य नामवर सिंह ने गुरु-प्रसंग में लिखित अपनी पुस्तक 'दूसरी परम्परा की खोज' में इस्लाम के आगमन से उत्पन्न सांस्कृतिक आतंक की समस्या को हिन्दुओं के लिए महज सरकारी नौकरियाँ न मिल पाने की चिंता के रूप में देखा है। पर वल्लभाचार्य के लिए प्रश्न नौकरियों का नहीं है हिन्दू अस्मिता का है। इसी प्रश्न को आधुनिक काल में सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने 'तुलसीदास' शीर्षक काव्य में उठाया है - 'भारत के नभ का प्रभापूर्ण/शीतल च्छाय सांस्कृतिक सूर्य' अर्थात भारत का सांस्कृतिक सूर्य मंद पड़ गया है तथा इस्लाम के चन्द्रमा की चाँदनी फैल रही है। निराला ने मुगलों-पठानों के आक्रमण को वर्षा के रूपक में बाँधा है -

'मोगल-दल-बल के जलदयान
दर्पित पद उन्मदनद पठान
हैं बहा रहे दिग्देश ज्ञान, शरखरतर
छाया ऊपर घन अंधकार - टूटता वज्र वह दुर्निवार
नीचे प्लावन की प्रलयधार, ध्वनि हर हर। '

यहाँ का कवि निर्भय-भाव से इस्लाम के सांस्कृतिक आतंक को देख रहा है। इस पर रामस्वरूप चतुर्वेदी की टिप्पणी है -"इस सांस्कृतिक संकट की चुनौती से जूझने को उद्यत होते हैं - तुलसीदास। भक्तिकाल के उदय को लेकर रामचंद्र शुक्ल की व्याख्या का यह जैसे काव्यात्मक चित्रण निराला ने किया हो। इतिहासकार के दृष्टिकोण का जैसा पुष्ट समर्थन वल्लभाचार्य के प्रकरण ग्रंथ से होता है वैसी ही मार्मिक सहमति उसे आधुनिक कवि निराला से मिलती है। जायसी ने खुले मन से 'पद्मावत' में हिन्दू-तुर्क युद्ध का वर्णन किया है - निराला ने वैसे ही कहा - 'शासन करते हैं मुसलमान'। वल्लभ ने 'म्लेच्छाक्रांतेषु देशेषु पापैकनिलपेषुच' कहा है। वास्तव में यह हिन्दू-अस्मिता के लिए संकट का समय है।''

'दूसरी परम्परा की खोज' में नामवर सिंह ने रामस्वरूप चतुर्वेदी के मत का विरोध करते हुए लिखा है कि 'यह सही है कि स्तोत्र के इन श्लोकों में एक जगह देश के 'म्लेच्छाक्रान्त' होने का उल्लेख है और यदि म्लेच्छ को मुसलमानों का वाचक मान भी लिया जाए तो यह कहाँ सिद्ध होता है कि गंगादि तीर्थों के भ्रष्ट होने, वेदों के अर्थ के तिरोहित होने, व्रतादिक सभी कर्मों के नष्ट होने, पाखण्ड, पाप, अज्ञान आदि के बढ़ने के लिए म्लेच्छ ही जिम्मेदार है और इन्हीं के आक्रमण के कारण कृष्ण का आश्रय ढूँढा जा रहा है।'' इस पर चतुर्वेदी जी का कहना है कि 'बड़ी कठिनाई से आलोचक मान पाता है कि 'म्लेच्छ' का अर्थ मुसलमान हो सकता है' पर इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि 'अज्ञान आदि के बढ़ने के लिए ये म्लेच्छ ही जुम्मेदार है।' तब वल्लभाचार्य का 'कृष्णाश्रय' का मत और आ. शुक्ल का 'विपरीत दशा' का देश-संकेत क्या झूठा है, नहीं ऐसा नहीं है। दरअसल, नामवर सिंह मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अन्तर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वन्द्व मानते हैं, इस्लाम और हिन्दू धर्म का संघर्ष नहीं। जबकि इस्लाम के सांस्कृतिक आतंक की बात को नकारा नहीं जा सकता। इसलिए चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि नामवर सिंह इस पूरे परिदृश्य से मुँह मोड़ लेते हैं। क्यों मुँह मोड़ लेते हैं? ऐसे आलोचक वस्तुतः हिन्दू मुसलमान की चर्चा आते ही परेशान होने लगते हैं। उनकी दृष्टि में यह चर्चा मात्र साम्प्रदायिकता से प्रेरित और प्रभावित है। इस मनः स्थिति के कारण वे हिन्दी भाषा और साहित्य के सच्चे असाम्प्रदायिक चरित्र की अवहेलना करते हैं। वे यह नहीं देखते कि चन्द और जायसी हिन्दू मुसलमान युद्ध की चर्चा करके भी साम्प्रदायिक नहीं होते। आ. शुक्ल की दृष्टि में जायसी यदि किसी से तुलनीय हैं तो तुलसीदास से। रहीम और तुलसी की जनप्रियता की चर्चा में भी वे रहीम को तुलसी से कम महत्व नहीं देते।

कबीर और जायसी की निर्गुणधारा में हिन्दू तुर्क संघर्ष की चर्चा जगह-जगह मिलती है, पर कृष्ण भक्ति धारा, राम भक्ति धारा या पूरी सगुण भक्ति परम्परा में 'हिन्दू-तुर्क' संघर्ष का सीधा उल्लेख नहीं मिलता है। उल्लेख मिलता है तो नगण्य रूप में। इसका कारण है कि सगुण भक्त कवियों की धारा प्रेम-भक्ति-रागानुगा भक्ति की चरम तन्मयता में ही निमग्न रही है। तुलसी ने तो साफ कहा है कि 'रामहि केवल प्रेम पियारा।' सूफी प्रेम-तत्व का प्रभाव कृष्ण भक्त कवियों पर पड़ा और सभी कृष्ण भक्त प्रेम महिमा के मुक्त गायक और प्रशंसक हैं। पूरी की पूरी सगुण भक्ति धारा सामन्तवाद के विरोध में पंडावाद, पुरोहितवाद, जातिवाद के विरोध में डटी हुई है, इस बात की डॉ० रामविलास शर्मा ने तो 'हिंदी जाति का इतिहास' पुस्तक में विस्तार से चर्चा की है। भक्ति शास्त्र से प्रेरणा लेकर भी भक्तिकाव्य 'शास्त्र' मोह में नहीं फँसता, वह 'लोकधर्म' की ओर उन्मुख रहा है। आ. शुक्ल ने 'तुलसीदास' पुस्तक में तुलसी के लोकधर्म की इसी विचार से चर्चा की है। तुलसी के 'लोकधर्म' को 'वर्णाश्रम-धर्म' का पर्याय मानना न केवल अनुचित है बल्कि इतिहास की गलत व्याख्या का परिणाम है। यह न भूलना चाहिए कि रामानंद की भक्ति चेतना से प्रेरित भक्ति आंदोलन न केवल जातिवाद विरोधी था बल्कि विराट जन-आंदोलन था।

9.9 रामभक्ति काव्य के सामन्तवाद विरोधी मूल्य

'भक्ति' तथा 'भक्ति आंदोलन' का पूरा चरित्र सत्तावाद सामन्तवाद का विरोधी रहा है। कृष्ण भक्त धारा के एक भक्त कवि कुम्भनदास का पद 'सन्तन को कहा सीकरी सो काम' इस पूरी विचार परम्परा का प्रतीक है। तुलसीदास ने 'प्राकृत जन कीन्हे गुन गाना' की प्रशस्ति परम्परा का विरोध किया । उनका यह स्वर न केवल विद्रोही स्वर है बल्कि गहरे अर्थों में चारण-भाट-सामन्त पूजा का तिरस्कार करता है। भक्ति आन्दोलन की प्राणधारा से प्रभावित अकबर ने तीर्थकर और जजिया समाप्त कर दिया। उसी के समय में राजा मानसिंह ने वृन्दावन और काशी में विशाल मन्दिर बनवाए। कुछ अकबरकालीन ऐसे सिक्के मिले हैं जिन पर 'राम-सीता' का चित्र अंकित है, ऐसी एक अठन्नी 'भारत कला भवन' काशी में है। 'राम-सीय' नागरी में अंकित हैं। अकबर स्वयं सूर्यनाम का हजारा जप करता था और पंडित सुन्दर लाल जी से हिन्दू शास्त्रों की चर्चा सुनता था। 'ईश्वर' से बड़ा कोई नहीं है यह बात भक्तिकाल में निर्गुण कबीर, प्रेममार्गी जायसी में पूरे विश्वास के साथ मौजूद है और इसी बात को 'राम से बड़ो है कौन' पूछकर तुलसी ने राम-भक्ति-महिमा का लीला गान किया है। रसिक राम भक्तिधारा में रामदास, अग्रदास, विष्णुदास, नहररिदास, कल्याण जी, नाभादास, चतुरदास, रामदास, मलूकदास सभी ने 'दाताराम' के गुणों का गान किया है - किसी हिन्दू मुसलमान सामन्त का नहीं। इन सभी के लिए भक्ति मात्र उपासना पद्धति नहीं है - एक मूल्य है, एक पूरी जीवन-पद्धति।

मर्यादावादी रामभक्ति परम्परा ने वाल्मीकि रामायण के आदर्श पर रामकथा पर आधारित प्रबन्धों की रचना की। तुलसी पूर्व रामभक्ति धारा में कदि ईश्वरदास तथा विष्णुदास ने चरित काव्य परम्परा का राम-रूप लिया है। मोहन ने 'हनुमन्नाटक' सूरदास ने 'सूरसागर' में राम-रामायण लिख दी और मीराबाई ने राम की शयन-आरती लिखकर कृष्ण भक्तों की राम निष्ठा का विस्तार किया। परमानंद दास, नंददास, हितहरिवंश सभी राम-सीता गान करते हैं। इस परंपरा का श्रेष्ठ रूप तुलसी दास में 'रामचरितमानस', 'कवितावली' 'गीतावली' 'विनय पत्रिका' आदि रचनाओं के द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। जहाँगीर-कालीन सामंतवाद के अत्याचार तुलसी को याद हैं -

> करहि उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करिमाया।।
> जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहि वेद प्रतिकूला।।

'नाना पुराण निगमागम सम्मत' अर्थात आगम (लोक-परंपरा) निगम (वैदिक-बौद्धिक परम्परा शास्त्र) दोनों परम्पराओं को मिलाकर तुलसी ने राम कथा को सामन्तविरोधी मूल्यों से मंडित किया। राम वनवास के समय ग्रामवासियों से मिलते हैं - केवट-निषाद को गले लगाते हैं, अहिल्या को तारते हैं, पतित पावन राम, दीनबन्धु-दीनानाथ के रूप में सामने आते हैं - वे राजाओं के पास मदद माँगने नहीं जाते, बानरों-भालुओं-भीलों निषादों की मदद से 'जगत दुःखदाता' रावण का वध करते हैं। जगह-जगह मानस में सामन्तवाद - साम्राज्यवाद को नीचा दिखाया गया है। मुनियों-तपस्वियों को सताने वाले ताड़का, सुबाहु, मारीचि का वध लोक को सुखी बनाने के लिए किया गया है। बालि का वध भी 'अनुज-वधू भगिनी सुत नारी' की मर्यादा के तर्क को पुष्ट करता है। तुलसी का रामकाव्य महलों के खिलाफ झोपड़ियों - ग्रामों-वनों की प्रतिष्ठा का काव्य है।

यवन भील कोल किरात निषाद सभी को राम अपनाते हैं और निषादराज को तो 'भरत सम भाई' कहते हैं। शास्त्र और शास्त्रीयता को तोड़कर तुलसी राम कथा को लोक ग्राह्य बनाते हैं। राम कथा के रचनाकार शिव हैं और श्रोता पार्वती। शिव-पार्वती ही यह कथा लोक में फैलाते हैं। संस्कृत को छोड़कर तुलसी जन-भाषा (अवधी) में रचते हैं। लोक-काव्यरूपों को, लोक छन्दों को अपनी कृतियों में अपनाते हैं। दरबारी काव्य-परम्परा के मूल्यों को राम भक्ति धारा हर स्तर पर चुनौती देती है। रीतिकाल में (केशवदास जिनका समय भक्तिकाल में पड़ता है) 'रामचन्द्रिका' के राम केशव के दरबारी काव्य के राम हैं भक्ति काव्य के 'अशरण-शरण राम' नहीं हैं। तुलसी की भक्ति का स्वरूप पुरोहितवाद, मुल्लावाद-पंडितवाद को अपनाने के विरुद्ध सतत संदेश देता है। राम का दीन बंधु, दीन दयाल, दीन रक्षक का रूप ही सामन्तवादविरोधी मूल्य है। डॉ० रामविलास शर्मा ने 'तुलसी साहित्य के सामन्तविरोधी मूल्य' तथा 'भक्ति आंदोलन और तुलसीदास' शीर्षक निबन्धों में कहा है कि -

1. यथार्थ यह है कि वर्णाश्रम धर्म के समर्थक पुरोहितों ने तुलसीदास को काफी सताया था और तुलसीदास ने भी उनका उचित उत्तर देने में आगा-पीछा न किया था।

2. तुलसी की भक्ति सभी जातियों और वर्णों को मिलाने वाली थी।

3. तुलसी की भक्ति वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार नहीं करती। जिन तमाम लोगों के लिए पुरोहित वर्ग ने उपासना और मुक्ति के द्वारा बन्द कर दिए थे, उन सबके लिए तुलसी ने उन्हें खोल दिया।

4. पुरोहित वर्ग ने जो व्यवहार नीची जातियों के साथ किया था वही व्यवहार उसने स्त्रियों के साथ किया था। उनके लिए केवल एक ही धर्म था कि पति की सेवा करें। तुलसीदास ने स्त्रियों के लिए उपासना के द्वार खोल दिए। राम से मिलने, उनका स्वागत सत्कार करने, उनका स्नेह पाने में स्त्रियाँ सबसे आगे रहती हैं।

5. तुलसीदास ने जनसाधारण के सौन्दर्य-बोध की जैसी सुकुमार व्यंजना की है, वह हिन्दी साहित्य में अनुपम है।

6. याद रखना चाहिए कि तुलसी सूर आदि कवियों ने चार सौ साल पहले ही भारतीय संस्कृति को चमत्कारवादियों से मुक्त करने का बीड़ा उठाया था।

7. तुलसीदास हमारे जातीय जनजागरण के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी कविता की आधार शिला जनता की एकता है।

तुलसी साहित्य एक ओर आत्मनिवेदन और विनय का साहित्य है, दूसरी ओर वह 'प्रतिरोध का साहित्य भी है'। (परम्परा का मूल्यांकन, पृ० 94)

9.10 भक्ति-भावना का अर्थ-संदर्भ

निर्गुण-सगुण में अभेद भाव, सगुण में गहरी आस्था ही राम भक्ति की भक्ति नहीं है। भक्ति रसपान के लिए भक्त कवि में याचक भाव है और भक्ति ऐसी जिसमें अहं का विलयीकरण हो। रचना और भक्ति दोनों प्रक्रियाएँ एक साथ सक्रिय रहती हैं। ये भक्त कवि अपने को सबसे बुरा, सबसे पतित कहते हैं, यह इनका विनय-भाव है। प्रपत्तिवाद, शरणागत भाव से उपजी दास्य भक्ति का चरम प्रतिमान हनुमान भाव की भक्ति है जिसमें राम से बड़ा राम भक्त है – 'राम ते अधिक राम कर दासा'। नाम, ध्यान, स्मरण, जप नवधा भक्ति के सभी रूपों को राम भक्ति में अपनाया गया है। रामभक्ति का सार यही है – सेव्य-सेवक भाव।

सेव्य सेवक भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धान्त विचारि।। (मानस)

तुलसीदास ने दार्शनिक और ज्ञानी से भक्त को बड़ा घोषित किया है और अलख-निरंजनवादी-'गोरख जगायो जोग' योग-तन्त्र के चमत्कारवादी विधान का खण्डन किया- **तुलसी अलखहि का लखै राम नाम जपु नीच।** साथ ही उन्होंने शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र, नारद भक्ति-सूत्र, गीता के भक्ति मार्ग को छानकर भक्ति-रस का लोकमंगलमय स्वरूप निर्मित किया। इस भक्ति पर राजा-रंक, नर-नारी, ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलमान, पंडित-मूर्ख सभी का समान अधिकार है, सभी राम भगति के अधिकारी हैं। तुलसी ने धर्म और दर्शन को जोड़कर 'भक्ति' का एक विशिष्टाद्वैतवादी ढाँचा निर्मित किया जिसमें कोई भी पराया नहीं है और किसी को भी भक्ति की मनाही नहीं है। तुलसी से पूर्व कबीर ने भक्ति की व्याख्या में कर्मकाण्ड-पुरोहितवाद का खण्डन किया था- वेद पुराणों की निंदा की थी –

साखी सबदी दोहरा कहि, कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निन्दहि वेद-पुराण।।

रामभक्ति धारा ने वैष्णव भक्तिवाद को सरस बनाने के लिए लोकचित्त को आकृष्ट करने के लिए अवतारवाद-लीलावाद को अपनाया। 'रामचरितमानस' महाकाव्य से ज्यादा लीलाकाव्य है, चरित काव्य है। राम कथा सभी संशयों को दूर कर जन मन में राम के प्रति दृढ़ भक्ति पैदा करती है। भक्तों के लिए राम करुणा के सागर है। सन्तों का संग, प्रभु की कथा में प्रेम, गुरुपद सेवा, प्रभु के गुणों का गान, मन्त्र-जाप, सज्जन धर्म से सेवा, सन्तों का आदर, प्रभु का सखा-सखी भाव से स्मरण, आत्मनिवदेन यही नवधा भक्ति है। 'नवधा भगति कहौं मोहि पाहीं' तुलसी का यही संकेत है। ज्ञानमार्ग, कर्मयोग मार्ग से भक्ति-मार्ग श्रेष्ठ है। तुलसीदास ने 'मानस' के 'उत्तरकाण्ड' में ज्ञान और भक्ति की विस्तार से चर्चा की है। ज्ञान-मार्ग को तलवार की धार पर चलना कहा है, पर भक्ति-मार्ग सभी के लिए सुलभ है। इस प्रकार राम काव्य परम्परा 'निर्वाण' तथा 'मोक्ष' को न चाह कर राम के चरणों की भक्ति, अनन्य भक्ति का प्रतिपादन करती है।

9.11 रामकाव्य परम्परा में लोक जीवन और लोक संघर्ष

रामभक्ति काव्य में 'लोक-धर्म', 'लोक चिन्ता', 'लोक मानस', 'लोकरक्षा' तथा 'लोक मंगल' की भावना का प्राधान्य है। प्रमुख राम भक्त कवि तुलसी ने लोक संघर्ष अर्थात साधारण जनता के जीवन संघर्ष का चित्रण किया है। तुलसी काव्य के नैतिक मूल्यों का संघर्ष साधारण जन संघर्ष से जुड़ा संघर्ष है। स्वयं तुलसी ने भूख-गरीबी, अकाल, काम-क्रोध-मद-लोभ से संघर्ष किया है और इस आत्म संघर्ष के चित्र 'कवितावली, गीतावली, दोहावली, विनय पत्रिका में विशेष रूप से दिए हैं। तुलसी काम से लड़ते हैं तो उसे नष्ट करने के लिए, उसे 'मर्यादित' करने के लिए लड़ते हैं। 'नारद मोह प्रसंग' में नारद की खिल्ली उड़ाते हैं तो शूर्पणखा की काम-उद्दण्डता पर दण्ड देते हैं और रावण को 'काम' मर्यादा अस्वीकार करने के कारण मरण-दण्ड। तुलसीदास वैराग्य का उपदेश नहीं देते पर लोक मर्यादा के पालन का संदेश देते हैं। जनक वाटिका में राम को 'कंकन-किंकिन नुपुर धुनि सुनि', 'मदन दुंदुभी दीन्हीं' का विचार आता है तो कहते हैं - 'मन कुपंथ पथ' कभी भी रघुवंश परम्परा में नहीं रहा है। रावण परशुराम, नारद और बालि को मद हो गया तो राम उस मद को तोड़ते हैं। समुद्र को बल का मद हो गया तो राम ने 'भय बिनु होय न प्रीति' का सहारा लिया। तुलसी ने लोक को संघर्ष करने का उपदेश दिया है - यह संसार झूठा मिथ्या नहीं है सत्य है, इसमें कर्म सौंदर्य ही सत्य है। 'झूठो है झूठो है' कहने वालों पर तुलसी ने व्यंग्य किया है और इस संसार को 'सीय राम मय सब जग जानी' अर्थात सीता-राम का यथार्थ रूप माना है। नीच कर्म में पड़े ब्राह्मण-पुरोहित, जातिवाद में पागल व्यक्ति की वे निंदा करते हैं। 'राम राज्य' की आदर्श-कल्पना में प्रजा के सुखी सम्पन्न जीवन का स्वप्न है। तुलसी के समय 'कालि बारहि बार अकाल परै', 'खेती न किसान को भिखारी को भीख बलि, बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी' की चर्चा है - 'दारिद-दसानन' ने दरिद्रता रूपी रावण ने जनता को बेहाल कर दिया है। गरीबी-भुखमरी-दरिद्रता का जितना वर्णन अकेले तुलसी ने अपनी रचनाओं में किया है उतना मध्ययुग के किसी अन्य कवि ने नहीं। उन्हें स्वयं 'बारे ते लाल बिललात द्वार-द्वार दीन' का अनुभव था। इसलिए उन्होंने जनता को 'दारिद दसानन' से संघर्ष करने का संदेश दिया है।

9.12 रामकाव्य परम्परा में नारी

राम भक्ति काव्य में नारी को लेकर जो बातें कही गईं, दुर्भाग्यवश उनका गलत प्रचार किया गया है। तुलसी की तो नारी विरोधी छवि ही बना डाली है। जबकि राम भक्तिधारा नैतिकतावादी-मर्यादावादी मूल्यों पर ही टिकी विचारधारा है और तुलसी के ग्रंथ लोक-जीवन में आचार-शास्त्र का काम करते रहे हैं। यह भी कहा जाता है कि तुलसी ने मीराबाई को पत्र-लिखकर जीवन का रास्ता दिखाया था -'जाकै प्रिय न राम वैदेही। तजिए ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही।' ऐसे तुलसीदास को नारी-विरोधी कहने का क्या अर्थ हो सकता है? इस बात पर आज गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। तुलसी के 'रामचरित मानस' 'कवितावली' को बिना पढ़े, बिना सही संदर्भ में समझे प्राय: तुलसी की निंदा की जाती है। 'वन्दौ कौसल्या दिशि प्राची' कह कर राम की माता की वन्दना करते हैं - सीता को जगत-जननी कहते हैं और शिव के साथ पार्वती का आदर करते हैं।

'रामचरित मानस' के कथा-प्रसंगों में कई बार 'सुनहु सती तब नारि सभाऊ' की चर्चा विशेष सन्दर्भ में आती है - पार्वती शिव से छल करती हैं तब शिव नारी स्वभाव में छल की बात उठाते हैं। राम के सामने शबरी विनय-वश कहती है - 'अधम ते अधम अधम अति नारी' यहाँ नारी को अधम सिद्ध करना कवि का उद्देश्य नहीं है। भरत जैसा महान चरित्र एक बार क्रोध में नारियों को 'सकल कपट अघ अवगुन खानी' कह देता है पर यह सामान्य-भाव धारणा नहीं है। रावण को नीच-वचनों में एक नारि स्वभाव के 'आठ अवगुन' आते हैं पर सोचने की बात है कि तुलसी के मन में रावण के प्रति कौन सा भाव है। तुलसीदास नारी के माता रूप पर प्रहार नहीं करते। कभी कभार नारी के कामिनी-कामान्ध रूप पर प्रहार करते हैं - 'नारि निबिड़ रजनी अंधियारी'। कभी कभार 'जिमि स्वतंत्र होई बिगरहि नारी' या 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' जैसे वचन आते हैं। तुलसी सतीनारी और कुलटा नारी में लोकमन के हिसाब से भेद करते हैं। राम और रावण में भी भेद करते हैं। नारी के प्रति तुलसी में अपार आदर न होता तो राम-कथा में राम, सीता के लिए मारे-मारे न फिरते। रावण द्वारा हरण करने पर सीता के लिए मछली की तरह न तड़पते। थकानभरी सीता को देखकर 'पिय की अँखिया' आँसू न टपकातीं। राम के अवध लौटने पर नारियाँ ही आगे हैं - नारि-समुद्र उमड़ पड़ा है। कैकेयी से राम क्षमा न माँगते - 'प्रथम तासु घर गए भवानी'। इस प्रकार राम-कथा में नारी की महिमा है यही महिमा गान मैथिलीशरण के 'साकेत' और निराला की 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' काव्य की शक्ति बना है।

9.13 राम काव्य में समन्वय साधना

हिन्दी में राम भक्ति काव्य धारा अपनी उदार समन्वय साधना के कारण बड़े आदर से याद की जाती है। इस समन्वय साधना का सर्वोत्तम रूप तुलसीदास के रचना-कर्म में प्रतिफलित हुआ है। आ.हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि लोक-नायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। ध्यान में रखने की बात है कि विरुद्धों में सामन्जस्य स्थापित करना सरल कार्य नहीं है, उसके लिए अक्ल और धीरज चाहिए। यह अक्ल और धीरज, समन्वय के साधक तुलसीदास में है - 'उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है, लोक-शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा तत्वज्ञान का समन्वय, पाण्डित्य और अपाण्डित्य का समन्वय - 'रामचरित मानस' शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।' हिन्दी में आगम-निगम परम्परा का इतना बड़ा जानकार और समन्वयकार कोई दूसरा नहीं। विद्वानों ने ठीक कहा है कि गौतम बुद्ध के बाद तुलसीदास ही भारत में सबसे बड़े लोक नायक हुए। इस कवि ने अपने समय में प्रचलित देवी-देवताओं, दार्शनिक विचारधाराओं, अवधी, ब्रजी की भाषा परम्पराओं का समन्वय किया। शैव-शाक्त चिन्तन परम्परा से वैष्णव-चिन्तन परम्परा का पुराना झगड़ा चला आ रहा था। इस कलह का शमन जरूरी था। 'मानस' में राम सीता को आदर दिया गया है। राम कहते हैं - शिव-द्रोही मेरा दास मुझे एकदम नापसन्द है। 'शिव द्रोही मम दास कहाना। जोजन मोहि सपनेहुं नहिं माना'।

मध्ययुगीन भारतीय विचारधारा में अनेक मत-मतान्तर थे और उनका परस्पर विरोध कभी भी प्रबल हो जाता था। विद्रोह के मूल में सामाजिक-धार्मिक विषमता थी। धर्म, जाति, दर्शन और उपासना के रगड़े-झगड़े थे। कर्मकाण्डी पुरोहितवर्ग भक्तिवादियों से झगड़ रहा था। आर्य और आर्येतर विचारधाराएँ टकरा रही थीं तुलसी जब 'गोरख जगाओ जोग भगति भगाओ लोक' कहते हैं तो यों ही नहीं कहते। उसके पीछे भक्ति आंदोलन का पूरा अनुभव बोलता है। सिद्धों-नाथों-कापालिकों-तान्त्रिकों के चमत्कारवाद, गुह्य-साधना, कृच्छ-साधना से भक्ति मार्ग के साधकों को टकराकर नया मार्ग निकालना पड़ा। वाममार्गी मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन - इन पाँच मकारों की उपासना करते थे, तुलसी ने इस शाक्त-मत का विरोध किया - 'तजि स्रुतिपंथ वामपंथ चलहीं'। तुलसी को वेद-मार्ग आता था - वैष्णव चिन्तन परम्परा स्वीकार्य थी। रामानंद ने वैष्णव भक्ति के द्वार निचली जातियों के लिए खोलकर बहुत बड़ा सामाजिक उपकार किया। कबीर और तुलसी, निर्गुण और सगुण दोनों को मिला देने का नतीजा सुखदायक सिद्ध हुआ। भक्ति काव्य की एक मूल विचार ध्वनि है - प्रेम (पिमो पुमर्थो महान), प्रेम ही मानव-जीवन का अमृत है। रामानंद ने मंत्र दिया था - 'जाति-पाँति बूझे नहि कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।' इसी मंत्र से तुलसी ने 'सियाराम मय सब जग जानी' का प्रतिपादन किया।

'नाना पुराण निगमागम सम्मत' विचार ने राम भक्ति धारा में नया लोक धर्म पैदा किया। यही सिद्धपीठ लोकमंगल कहलाती है। जो लोग तुलसी को 'ब्राह्मणवादी' मानते हैं उन्हें गंभीरता से उनके समन्वय सिद्धांत पर विचार करना चाहिए। 'माँगि के खाइबो मसीन में सोइबो' कहने वाले तुलसीदास को जीवनभर संघर्ष करना पड़ा। काशी के सामन्तों-पुरोहितों ने उन्हें कम नहीं सताया था पर वे अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए।

9.14 तुलसी परवर्ती राम काव्य-परम्परा

तुलसीदास ने राम-भक्ति काव्य को इतना उत्कर्ष प्रदान किया कि आगे के कवियों के लिए नवीन सर्जनात्मक सम्भावनाएँ लगभग समाप्त हो गईं। यह भी सच है कि तुलसी के पश्चात राम-भक्त कवि अधिक नहीं हुए। अग्नदास ने 'कुण्डलिया रामायण' और 'ध्यानमंजरी' में राम-कथा का वर्णन किया है। प्राणचन्द चौहान ने 'रामायण-महानाटक' तथा हृदयराम ने 'हनुमन्नाटक' का सृजन किया। लालदास ने 'अवध-विलास' लिखी। रामभक्त कवियों की संख्या बहुत कम है। वैयक्तिक अनुभूतियों के स्वच्छन्द विलास के लिए कृपाण का चरित्र-अधिक उपयुक्त था। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने कृष्ण राधा को 'श्रृंगार को सार किसोर-किसोरी' कहकर अपनी कविता का विषय बनाया है।

तुलसीदास तथा परवर्ती भक्त कवियों के पश्चात रामकाव्य का सृजन करने वाले कवियों में केशवदास का नाम उल्लेखनीय है। विद्वानों का मत है कि केशव ने बाल्मीकि रामायण और तुलसी के 'रामचरित मानस' से प्रेरणा ग्रहण करते हुए 'रामचन्द्रिका' की रचना की। केशव विद्वान और आचार्य तो थे - पर उन्हें कवि-हृदय नहीं मिला था। प्रबन्ध काव्य के लिए कथा के मर्मस्पर्शी स्थलों की उन्हें पहचान नहीं थी। केशव ने राम को मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप में नहीं, एक रीतिकालीन वैभवसम्पन्न सामन्त के रूप में प्रस्तुत किया। अलंकार और द्वन्द्वकला के प्रदर्शनकारी चमत्कारवाद के कारण 'रामचन्द्रिका' आभाहीन होती गई। फिर केशव का समय तो भक्तिकाल है, पर प्रवृत्तियाँ रीतिकालीन हैं। पंडिगई उनके लिए बोझ है जिसके नीचे उनका कवि दबकर रह गया है।

रीतिकाल में राधा-कृष्ण के सुमिरन के बहाने श्रृंगार को अतिशय महत्व मिला। राम का लोकसंग्रही रूप रीतिकालीन कवियों की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं पड़ सका। यही कारण है कि इस काल में बहुत कम रचनाएँ राम को लेकर लिखी गई हैं। रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह ने 'रामस्वयंवर' तथा 'आनन्दरघुनन्दन नाटक', महन्त रामचरण दास ने 'कवितावली रामायण' आदि राम कथा की रचनाएँ की हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि रामचरण दास ने राम-सीता के श्रृंगार का वर्णन करके राम भक्ति में माधुर्य भाव को स्थान दिया। आधुनिक काल में नवजागरण की चेतना से प्रेरणा पाकर अनेक रचनाकार रामकाव्य के सृजन कर्म में प्रवृत्त हुए हैं। इनमें भारतेन्दु, रामचरित उपाध्याय, रामनाथ ज्योतिषी अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', आ. बलदेवप्रसाद मिश्र, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक साहित्य की रामकाव्य-परम्परा में सर्वाधिक महत्व मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य 'साकेत' और खण्डकाव्य 'पंचवटी' को मिला है। साकेत पर वैष्णव चिन्तन और गाँधी-विचार दर्शन की गहरी छाप है। 'साकेत' का कथा विधान नए युग की विचारधाराओं से आन्दोलित है। तुलसी के 'मानस' के बाद रामकाव्य परम्परा में 'साकेत' और 'पंचवटी' का अविस्मरणीय स्थान है।

छायावाद के और आधुनिक हिन्दी कविता के सबसे क्रान्तिकारी कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के प्रिय कवि तुलसीदास रहे हैं। निराला जी ने जीवन भर काव्य सृजन किया। सर्वाधित प्रतिभा का विस्फोट उनकी दो रचनाओं में हुआ - 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' हिन्दी प्रदेश का नवजागरण निराला जी की जातीय प्रतिभा में नया अर्थ-सन्दर्भ पाता है और इस अर्थ सन्दर्भ को सामने लाने का माध्यम है - रामकथा। इस परम्परा में आगे चलकर सुमित्रानन्दन पंत, नरेश मेहता और जगदीश गुप्त के नाम भी उल्लेखनीय हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि राम-काव्य - परम्परा आज भी हिन्दी कविता में नए रूपों और रंगों को लेकर निरन्तरता और परिवर्तन के साथ दिखाई देती है।

9.15 सारांश

राम भक्ति काव्य धारा तीन रूपों में प्रवाहित हुई - (1) बौद्धों तथा जैनियों के द्वारा रचित राम काव्य, (2) रसिक-सम्प्रदाय के कवियों का राम-काव्य और (3) नैतिक मूल्यों पर आधारित राम-भक्त कवियों की मर्यादावादी परम्परा। इन तीनों रूपों में सर्वाधिक लोकप्रिय हुए - राम भक्त कवि और इनमें भी तुलसीदास। तुलसीदास ने प्रबन्ध-मुक्तक गेय परम्पराओं की सभी लोक-शैलियों को अपनाकर जनता का मन मोह लिया। अवधी-भाषा के सरल सहज साहित्यिक रूप को निखारकर इतना सर्जनात्मक बना दिया कि उसका काव्य सौन्दर्य अपनी शोभा में अनुपम हो उठा। भारतीय मिथकशास्त्र और सौन्दर्य-दर्शन, काव्य शास्त्र और संस्कृत-प्राकृत के रचनात्मक साहित्य को निचोड़कर तुलसी ने राम काव्य में शील, भक्ति, सौन्दर्य का निरूपण किया। दरअसल रामकाव्य का विकास 'लीला नाट्य', 'लीला काव्य' के रूप में हुआ। राम लीला की परम्परा का श्रीगणेश भी तुलसीदास ने किया। आज देश विदेश में राम लीला की एक विशाल परम्परा मिलती है। राम-कथा के राम को साम्राज्यवाद-अधिनायकवाद का विरोधी बना दिया। राम कथा अन्याय के विरोध का प्रतीक बन गई। अंग्रेजी-शासन में बाबा रामचन्द्र ने रामकथा से अवध-किसान-आन्दोलन चलाया और हर भारतीय ने अपनी शक्ति और अस्मिता को राम कथा में पाया। राम कथा का लोक-सौंदर्य कथा प्रसंग की नाटकीयता, मार्मिकता, रसज्ञता, संवाद योजना, अप्रस्तुत-योजना, छन्द-लय-विधान या पात्र-योजना तक ही सीमित नहीं है। वास्तविकता यह है कि राम कथा समस्त भारतीय सौंदर्य चेतना का प्रतिमान है। भक्ति-काव्य के बाद रीतिकाव्य में राम कथा में उतार आया। लेकिन आधुनिक काल में मैथिलीशरण गुप्त और निराला ने राम काव्य को नया अर्थ-सन्दर्भ दिया। आज भी 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है' वाली बात सच मालूम होती है।

हिन्दी में राम भक्ति काव्य परम्परा ने लोक और शास्त्र दोनों के सामन्जस्य से अपना पथ-प्रशस्त किया है। ऊपर से उनकी रचना - स्वान्तः सुखाय, आत्म निवेदनात्मक, आत्म प्रबोध के लिए दिखाई देती है - लेकिन गहराई में हम पाते हैं कि लोक-धर्म, लोक-चिन्ता, लोक-मंगल ही इस रचना कर्म की प्रेरणा भूमि है। ये सभी भक्त कवि 'भक्ति' को लोक कल्याण के अहं के परिष्कार का माध्यम मानते हैं लेकिन उपदेशक की भूमिका में नहीं जाते। रचना में उपदेश है तो राम-कथा के अंतर्गत ही है। रामभक्त कवि की ओर से उसे आरोपित नहीं किया गया है। कवि का तो एक ही उपदेश है - हरि पद में अनुराग, नवधा-भक्ति में डूबकर तन्मन्यता की प्राप्ति, नैतिक-मूल्य भावना से सुधार-परिष्कार-विस्तार। भारत के राममय होने का कारण भी यही है कि संत कवि तुलसी ने परम्परा के अमृत तत्व को उसमें भर दिया है। राम हमारे जीवन का आदर्श है और रावण यथार्थ। व्यक्ति कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो यदि इसमें रावण वृत्तियाँ हैं तो उसका पतन निश्चित है। ऐसी भावना के कारण राम-कथा अन्याय पर न्याय के जीत की कथा है।

9.16 प्रश्न अभ्यास

1. राम काव्य परंपरा का परिचय दीजिए।
2. काव्य प्रवृत्ति के आधार पर रामभक्ति साहित्य का मूल्यांकन कीजिए।
3. रामकाव्य में लोकमंगल की भावना का विवेचन कीजिए।

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

तुलसीदास : डॉ० माताप्रसाद गुप्त

हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

दूसरी परम्परा की खोज : प्रो० नामवर सिंह

हिन्दी साहित्य की भूमिका : आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

हिन्दी साहित्य का इतिहास : आ० रामचन्द्र शुक्ल

भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य : प्रो० मैनेजर पांडेय